साहित्य-सुमन-माला का द्वितीय पुष्प

अपभ्रंश-दर्पण

लेखक

जगन्नाथराय शर्मा एम० ए० (सं० हि०),

गोल्ड मेडलिस्ट,

प्रोफेसर, पटना-विश्वविद्यालय, पटना

प्रकाशक

साहित्य-सुमन-माला-कार्य्यालय,

बाँकीपुर, पटना

प्रथम संस्करण] सं० १९९८ [मूल्य १।) रुपया

समर्पण

भारतमाता के अमूल्य लाल,

विहार के प्राण, भारतीय राष्ट्र

के कर्णधारों में प्रमुख, प्रतिभा,

सेवा सौजन्य, सरलता, एव

सच्चरित्रता की मूर्त्ति, देशरत्न

डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद

के करकमलो में उनकी कृपापूर्ण

अनुमति से सादर एव सभक्ति

समर्पित।

विनीत—

"जगन्नाथ"

विषय-सूची

निवेदन

अपभ्रंश-दर्पण 'साहित्य-सुमन-माला' का द्वितीय पुष्प है। इसका प्रथम पुष्प विक्रमविजय काव्य हाल ही प्रकाशित हो चुका है। इस काव्य के सम्बन्ध में कविसम्राट् पं० अयोध्या सिंह जी उपाध्याय ग्रन्थकार के पास लिखते हैं:—"विक्रम-विजय भी आपकी हृदय-ग्राहिणी रचना है। उसमें आपकी प्रतिभा और मार्मिकता पर्याप्त मात्रा मे मौजूद है। मुझको ग्रन्थ पढ़ कर परमानन्द हुआ। आशा है, हिन्दी-संसार में इसका आदर होगा।" इस ग्रन्थ का तो उक्त पंडित जी ने प्राक्कथन ही लिखा है जो इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है। इस माला की उत्कृष्टता जब हिन्दी के इतने वयोवृद्ध और सर्वश्रेष्ठ कवि तथा लेखक को भी मुक्तकंठ से स्वीकार करनी पड़ी है तो इसकी उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है। अतएव ऐसे उपयोगी ग्रन्थों को प्रकाशित करने पर मुझे पूर्ण सन्तोष है और मैं प्रेम पूर्वक-इन्हें अपनाने के लिये हिन्दी-प्रेमी भाइयों को आह्वान करता हूँ। 'विक्रम-विजय' का स्वागत जिस ढंग से हिन्दी-प्रेमीजनता तथा छात्र एवं नवयुवक समाज कर रहा है उससे मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा यह प्रेमामन्त्रण सर्वथा सफल होगा।

इन ग्रन्थों के प्रणेता का परिचय हिन्दी-संसार को, विशेषतः विहारियों को, देना सूर्य्य को दीपक दिखाना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि पर्य्याप्त प्रोत्साहन मिला तो आप हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर लेखकों में भी अग्रगण्य स्थान शीघ्र ही प्राप्त कर लेंगे। हिन्दी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी आदि के तो आप पंडित हैं ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में से बंगला, गुजराती, इत्यादि से भी आप पर्य्याप्त मात्रा में परिचित हैं। इसके अतिरिक्त आप कवि तथा समालोचक भी उच्च कोटि के हैं। यदि हिन्दी-प्रेमियों की कृपा हुई तो हम शीघ्र ही आपके 'खड़ी बोली के महाकाव्य', 'खड़ी बोली के खण्डकाव्य', 'खड़ी बोली के गीतकाव्य', 'सूरसागर-रहस्य' और 'अतीत-भारत महाकाव्य' आदि बहुमूल्य रत्न लेकर हिन्दीमाता के चरणों की अर्चना करने में समर्थ हो सकेंगे।

विनीत

राज नारायण शर्मा 'विशारद'

(गोल्डमेडलिस्ट)

प्रकाशक

महल्ला सदावर्ती,
आजमगढ़
३१।४।४१

प्राक्कथन

मैंने श्रीमान् पण्डित-प्रवर जगन्नाथ राय शर्मा, एम० ए० विरचित **'अपभ्रंश-दर्पण'**, और उसकी भूमिका देखी। ग्रन्थ वास्तव में 'यथानाम तथागुणः', है। ग्रन्थ के देखने से ज्ञात होता है कि भाषा-शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार है। अपनी भूमिका में वे एक स्थान पर लिखते हैं, "मुझे लगभग सालभर तक लगातार परिश्रम इस संग्रह के प्रस्तुत करने मे करना पड़ा है। इस श्रम-साध्य और कठोर प्रयत्न में मैं कहाँ तक कृतकार्य्य हो सका हूं, इसका निर्णय सहृदय भाषा-मर्मज्ञ ही कर सकते हैं।" मुझको भाषा-मर्मज्ञ होने का अभिमान नहीं है, परन्तु मैं ग्रन्थ को देखकर यह कह सकता हूं कि अपभ्रंश-दर्पण के निर्माण मे उनको उतनी ही सफलता प्राप्त हुई है, जितनी आचार्य्य हेमचन्द्र को अपने अपभ्रंश-ग्रन्थ के निर्माण में मिली है। मनुष्य की कोई कृति निर्दोष नहीं हो सकती, भ्रम-प्रमाद से कौन बचा,

परन्तु मैं गर्व के साथ दृढ़ता से यह कह सकता हूं कि अपभ्रंश-दर्पण के निर्माण में ग्रन्थकार की कृतकार्य्यता उल्लेखनीय ही नहीं चकितकर है, और उनकी गम्भीरगवेषणा-शक्ति का आदर्श है। हिन्दी-भाषा में अबतक अपभ्रंश पर इस योग्यता से उसकी व्यापकता और प्रशस्तता पर वास्तविक प्रकाश डालते हुए किसी की कोई रचना नहीं हुई थी। भाषा-विज्ञान आदि कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें अपभ्रंश-भाषा पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है, परन्तु इस ग्रन्थ के समान सर्वाङ्गपूर्णता उनमें भी नहीं पाई जाती। यही इस ग्रन्थ का महत्त्व है। इस ग्रन्थ की रचना करके ग्रन्थकार ने अपभ्रंश-भाषा का **'काया-कल्प'** किया है और उस न्यूनता की पूर्ति की है, जो चिरकाल से उसमें विद्यमान थी। ऐसी उदात्त ग्रन्थरचना के लिये मैं ग्रन्थकार की प्रशंसा हृदय से करता हूं। विश्वास है हिन्दी-संसार में इसका समधिक समादर होगा।

हरिऔध

(कविसम्राट् पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय,

हिन्दी-अध्यापक,

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।)

भूमिका

सन् १९३७ में पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी में बी०ए० आनर्स एवं एम० ए० की पढ़ाई शुरू होने पर उक्त वर्गों को पढ़ाने के लिये मेरी नियुक्ति हुई। एम० ए० में आठ पत्र (Papers) हैं। सातवें पत्र में संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। सन् १९३९ की परीक्षा के लिये अपभ्रंश भाषा का श्री जैकोबी द्वारा संपादित 'धणबाल-चरिउँ' ग्रन्थ स्वीकृत था। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध न हो सका। अत: अपभ्रंश की पढ़ाई न हो सकी।

एम० ए० कक्षा में अपभ्रंश-भाषा का केवल एक ग्रन्थ पढ़ाना मुझे उचित नहीं जँचा। मेरे विचार से एक ग्रन्थ से केवल एकही कवि की शैली का परिचय मिलता है। अतएव मैं ने यह निश्चय किया कि अपभ्रंश भाषा का एक ऐसा सुन्दर संग्रह तैयार कर दूं जिससे उक्त भाषा के विकास का क्रम भी मालूम हो, उसके अध्ययन में भी सुविधा हो और उसके साहित्य का सौष्ठव भी झलकने लगे।

इस संग्रह की आवश्यकता का अनुभव मेरे सहकारी अध्यापकों ने भी किया। उन्हों ने सहयोग प्रदान करने का वचन भी दिया पर अस्वस्थता तथा अन्यान्य कार्य्यों में व्यस्त रहने के कारण उन में से कोई भी मुझे कुछ भी साहाय्य न दे सका।

अतः इस संग्रह में मुझे अकेले ही लगभग सालभर तक लगातार परिश्रम करना पड़ा है। इस श्रमसाध्य और कठोर प्रयत्न में मैं कहाँ तक कृतकार्य हो सका हूँ इसका निर्णय सहृदय भाषा-मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। यहाँ पर मैं भी महाकवि कालिदास के शब्दों में यही कहूंगा, "हेम्न: संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा"।

इस संग्रह-ग्रंथ को मैंने तीन भागों में बाँटा है। प्रथम भाग में अपभ्रंश के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें हैं। द्वितीय भाग में आचार्य्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश-सूत्रों के हिन्दी रूपान्तर, उनके उदाहरण तथा उनके अनुवाद हैं। इस भाग में मैंने अपभ्रंश व्याकरण को स्पष्ट करने की यथाशक्ति चेष्टा की है और सूत्रों के उदाहरणों को या तो लिखकर बतला दिया है या रेखाङ्कित कर दिया है। मेरा विश्वास है कि यदि इस ग्रन्थ मे दिये गये अपभ्रंश-व्याकरण का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया जायगा तो उसके साहित्य मे पूर्णतया प्रवेश हो सकेगा।

तृतीय भाग में अपभ्रंश पद्यों का संग्रह, उनके अनुवाद तथा उनके रचयिताओं के संक्षिप्त परिचय है। इस संग्रह को मैंने जहाँ तक हो सका है अपभ्रंश भाषा के विकास-क्रम के अनुसार सजाया है। पहले कालिदास के नाम से प्रसिद्ध पद्य, फिर नवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तथा पन्द्रहवीं शताब्दियों के पद्य मैं ने इसमें चुन चुन कर रक्खे हैं। पद्यों के चुनने मे तीन बातों का ध्यान रक्खा गया है—रचना-सौष्ठव, हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव, और अपभ्रंश सीखने में सुगमता। तृतीय पाठ में जो

हेमचन्द्र का लम्बा उद्धरण दिया गया है उसका कारण यही है कि अपभ्रंश-व्याकरण के उन्होंने जितने नियम लिखे हैं उनके उदाहरण उसमें क्रमशः मिलते हैं। समझने में सुगमता के ख्याल से वे रेखाङ्कित कर दिये गये हैं। धणवाल और हेमचन्द्र की कविता से तुलसी और कबीर आदि संत कवियों की शैली तथा विचारधारा का बहुत कुछ परिचय मिल जायेगा। प्राकृत-पैंगलम् के पद्यों में काव्य-सौष्ठव, भाषा-सौन्दर्य, एवं संगीतात्मक विचारों का पूरा पूरा स्वाद मिल जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें पुरानी या प्रारम्भिक हिन्दी के पास पहुँची हुई अपभ्रंश-भाषा का मधुर रूप दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार इस ग्रंथ में अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें, उसका व्याकरण, उसके प्रसिद्ध कवियों के काव्यों से सुन्दर संग्रह, उन संग्रहों का अनुवाद तथा उनके रचयिताओं का संक्षिप्त परिचय देकर इसे सर्वथा उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम भाग में मैंने एक बात की काफी चर्चा नहीं की है। वह यह है कि अपभ्रंश भाषा के कितने भेद हैं और उनकी कौन कौन सी विशेषतायें हैं। मेरी समझ में यह विषय इतना गम्भीर है कि इसकी काफी चर्चा किसी पाठ्य-ग्रंथ की भूमिका में नहीं की जा सकती। हमारे पूज्य प्रिन्सिपल डाक्टर हरिचन्द्र शास्त्री महोदय ने इस ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, अतः यहाँ इस बात की कुछ चर्चा कर देता हूँ। परन्तु इसका पूरा पूरा विवेचन किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही करने का विचार है।

संसार की सभी भाषाओं के समान अपभ्रंश भाषा के भी दो प्रधान रूप थे साहित्यिक और बोलचाल का। साहित्यिक रूप तो प्राय: एक ही था। किन्तु बोलचाल के रूप अनेक थे। इस सम्बन्ध मे गुजराती 'अपभ्रंश-पाठावली' के संस्कृत 'निवेदनम्' मे श्री मधुसूदन चिमनलाल मोदी का कथन द्रष्टव्य है। वे कहते हैं—आलंकारिक वचनानुगामिन उपरितनविवेचनस्य निष्कर्ष वयमुपसंहरामः। काश्चिद् देश्यभाषाः काव्यादिषूपनिबद्धत्वा द्विद्वज्जनप्रयुज्यमानत्वात् परां शुद्धिमाप्नुवन्। तासां च विशेषत आभीरादीनां गिरः अपभ्रंशतया स्मर्यन्त इति। अर्थात् आलंकारिकों के कथनानुसार जो ऊपर विवेचन किया गया है उसका उपसहार यों है। कुछ देशी भाषायें काव्य मे प्रयुक्त तथा विद्वानो के द्वारा व्यवहृत होकर अत्यन्त परिष्कृत हो गईं। उन्हीं मे से विशेषत: आभीर आदि जातियो की बोलियाँ अपभ्रंश कहलायीं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश किसी एक भाषा का नाम नहीं। जितनी प्राकृतें थी उतनीही अपभ्रंशें थीं। परन्तु साहित्य का विकास न होने के कारण उनके स्वरूप का पता लगना कठिन है। सम्भव है अधिक खोज होने पर उनमे से कुछ के नमूने मिलें। सम्वत् ८३५ में लिखित कुवलयमालाकथा मे उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश के १८ भेद बतलाये है। उनमें से सोलह की विशेषताओं का उन्हों ने उल्लेख किया है। स्थानाभाव से हम उन्हे यहाँ उद्धृत करने में असमर्थ हैं।

मार्कण्डेय ने भी अपने प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के

नागर, उपनागर और ब्राचड़ ये तीन भेद बतलाये हैं। अतः प्रान्त-भेद से अपभ्रंश के बोलचाल के स्वरूप के कई भेदों को स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु साहित्यिक स्वरूप उसका प्रधानतया केवल एक ही था। और वह स्वरूप नागर अपभ्रंश है जिसका आधार शौरसेनी प्राकृत हेमचन्द्र के अनुसार मानी जा सकती है। साहित्य में उसकी प्रधानता थी। हेमचन्द्र ने उसी शौरसेनी या नागर अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है।

श्रीयुत डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश ही बहुत समय तक उत्तर भारत की राष्ट्रभाषा एवं साहित्यिक भाषा थी। वे कहते हैं:—"The western or Saurseni Apabhraṁsa became current all over Aryan India from Gujarat and western Punjab to Bengal, probably as a Lingua franca, and certainly as a polite language, as a bardic speech which alone was regarded as suitable for poetry of all sorts"

Chatterji, O. D. B. L Intro. P. 161.

श्रीयुत मोदी का भी यही कथन है। वे कहते हैं:—
साहित्यभाषापदमारूढैकापभ्रंशभाषा दक्षिणापथवर्तिमान्यखेट-निवासिना महाकविपुष्पदन्तेन, कामरूपवसतिना महासिद्धसरोरुहेण, बंगदेश वास्तव्येन कृष्णपादेन विविधदेशनिवासिभिश्चैव-मनेकैः कविभिः संस्कृतप्राकृतवत् प्रयुज्यमानैकस्मिन् समये समस्ते

भारतवर्षे लब्धप्रचारासीदत्र न भवति सशयलवस्याप्यवकाशः।
अपभ्रंश पाठावली—पृष्ठ ६।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शौरसेनी अपभ्रंश का भारतीय अपभ्रंशो मे वही स्थान था जो महाराष्ट्री प्राकृत का प्राकृतो मे और खड़ी बोली का आज की बोलियो मे। यही नहीं वह संस्कृत भाषा के समान सभी आर्य्य-प्रान्तो मे सम्मान से देखी जाती थी और उसका शिष्टभाषण और साहित्य-रचना में व्यवहार होता था। अतः यहाँ उसी साहित्यिक अपभ्रंश का मुझे परिचय देना था और इस कारण से हेमचन्द्र का व्याकरण मैं ने इस ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया है। मुझे बोलचाल की अपभ्रंशो का विवेचन नही करना था अतः उनके भेद-प्रभेद और विशेषताओ का यहाँ दिग्दर्शन कराना मैंने अनावश्यक समझा। इस विषय का विवेचन किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ मे करने के विचार से इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त करता हूँ।

अपभ्रंश भाषा का माधुर्य्य अनुपम है। प्राकृत पैंगलम् के उद्धरणो से यह बात अवश्य लक्षित हो जायेगी। कुवलयमाला कथाकार ने अपभ्रंश को "प्रणय-कुपित प्रिय-प्रणयिनी-समुल्लाप के सदृश मनोहर" बतलाया है। राज शेखर ने भी उसे 'सुभव्य' कहा है। और वास्तव मे वह मनोहर भाषा है भी। इसके साहित्य मे सौंदर्य्य स्वाभाविक रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। इसके साहित्य के अध्ययन से भारतीय आधुनिक भाषाओं का विकास और उनके साहित्य का सौष्ठव आसानी से हृदयङ्गम किये जा

सकते हैं। हिन्दीभाषा-ज्ञान की पूर्णता के लिये उसकी जननी अपभ्रंश का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

इतने बड़े और गहन ग्रन्थ में प्रूफ आदि देखने में अशुद्धियाँ रह जाना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। अशुद्धियों को ढूँढ कर उनको शुद्ध कर लेने के लिये शुद्धि-पत्र लगा दिया गया है। फिर भी यदि कहीं भूलें रह गयीं हों तो मैं उनके लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ। हिन्दी मे यह अभिनव प्रयत्न है। या यों कहिये कि यह मेरा बालचापल्य है। इस गुरुतर भार को सँभालने की क्षमता न रखने हुए भी मैं इसके लिये साहस करके सन्नद्ध हो गया और कुछ भी आपके समक्ष रख सका बस इतना भी मेरी पीठ ठोंकने के लिये काफ़ी है यद्यपि त्रुटियों के लिये कनैंठियाँ देने से भी आपको रोकने का मेरा अधिकार नहीं। किन्तु कृपा कर यह न भूलें कि छिद्रान्वेषण करना और बात है, पर कुछ कर दिखाना और।

पटना विश्वविद्यालय पटना	विनम्र:— **जगन्नाथराय शर्मा** ता· १५-५-१९४१

अपभ्रंश-दर्पण

प्रथम भाग

भारतीय-आर्य्य-भाषाओं का काल विभाग

विद्वानो का विचार है कि भारतीय आर्य्य-भाषाओं को उनके विकास क्रम के अनुसार तीन बड़े भागों में विभक्त कर सकते हैं। वे ये हैं:—

[१] प्राचीन भारतीय आर्य्य-भाषायें—ईस्वी सन् १५०० वर्ष पूर्व से ई० सन ६०० वर्ष पूर्व तक।

[२] मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषायें—ई० सन् ६०० वर्ष पूर्व से सन् १००० तक।

[३] नवीन भारतीय आर्य्य-भाषायें—सन् १००० से अबतक।

उपर्युक्त तीनों कालों के उपभेद भी किये गये हैं। वे यों हैं:—

(क) प्राचीन भारतीय आर्य्य-भाषायें

[१] वैदिक संस्कृत काल—आरम्भ से ई० सन् १००० वर्ष पूर्व तक।

[२] लौकिक संस्कृतकाल—ई० सन् १००० वर्ष पूर्व से ई० सन् ६०० वर्ष पूर्व तक।

(ख) मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषायें

[१] प्रारम्भिक मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—ई० सन् ६०० वर्ष पूर्व से ई० सन् २०० वर्ष पूर्व तक।

[२] द्वितीय मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—ई० सन् २०० वर्ष पूर्व से ई० सन् २०० वर्ष तक।

[३] तृतीय मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—ई० सन् २०० से ई० सन् ५०० या ६०० तक।

[४] चतुर्थ मध्यकालीन भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—ई० सन् ५०० या ६०० से ई० सन् १००० या ११०० तक।

(ग) नवीन भारतीय आर्य्य-भाषायें

[१] प्रारम्भिक नवीन भारतीय आर्य-भाषाकाल—सन् ११०० से सन् १४०० ई० तक।

[२] मध्यकालीन नवीन भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—सन् १४०० ई० से सन् १७०० ई० तक।

[३] आधुनिक भारतीय आर्य्य-भाषाकाल—सन् १७०० ई० से अब तक।

इस ग्रन्थ में हमें नवीनकाल पर विचार नहीं करना है। जिस अपभ्रंश भाषा पर हमें विचार करना है उसकी उत्पत्ति

लगभग ५०० ई० के करीब हुई। अतएव इस ग्रन्थ में हम सन् ५०० ई० से सन् ११०० ई० तक की सर्वसाधारण की भाषा तथा सन् ११०० से सन् १५०० ई० तक की साहित्यिक भाषा अर्थात् अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य पर विचार करेंगे।

अपभ्रंश-भाषा की उत्पत्ति

आधुनिक विद्वानों के अनुसार आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व वैदिक-संस्कृत का पूर्ण विकास हो चुका था। उसमें ऋग्वेद जैसे महत्त्वपूर्ण अलौकिक काव्य का सृजन हो चुका था। धीरे २ सभ्यता के साथ साथ कला में भी विकास होने लगा। सामवेद की रचना हुई और उसके अलौकिक संगीत से आर्य्य-जाति का हृदय आनन्द-विभोर हो उठा। सरल जीवन में जटिलता आई। कर्मकाण्ड की प्रधानता हुई। यज्ञ-सम्बन्धी विधियों से यजुर्वेद और ब्राह्मणों की रचना तथा कलेवर वृद्धि हुई। प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ पर विचार होने लगा। अनार्य्यों के सम्पर्क से जादू टोने में भी विश्वास हो गया। इधर सर्वव्यापी ब्रह्म की प्राप्ति की धुन सवार हुई। अथर्ववेद भी चतुर्थवेद के नाम से विख्यात हुआ। संहिताओं और ब्राह्मणों के अतिरिक्त आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। ब्रह्मज्ञान की वासना खूब बलवती हो उठी। सरल जीवन कर्मकाण्ड से ऊब कर दार्शनिकता से जा लिपटा।

पर बात यहीं तक नहीं रही। वेदों के मंत्रों के आधार पर ही छः अद्भुत् दर्शनों की उत्पत्ति और विकास हुआ।

वैदिक-संस्कृत के रूप में परिवर्तन हुआ। महर्षि पाणिनि का व्याकरण बना और लौकिक-संस्कृत के फूलने फलने के दिन आये। महर्षि बाल्मीकि का आदि काव्य बना। 'जय' काव्य की रचना हुई और उसने विकसित होकर महाभारत का रूपधारण किया। पुराणों के प्रारम्भिक रूप बने और संस्कृत-भाषा का भारतीय-साहित्य पर एकच्छत्र शासन स्थापित हुआ।

किन्तु वह अब जनता को बोलचाल की भाषा न रही। उसकी महिमा साहित्य ही तक सीमित रही। वैदिक युग मे ही जिस सरल संस्कृत का बोलचाल में व्यवहार होता था उसमें समय और अनार्यों के संघर्ष के कारण बहुत कुछ परिवर्तन उपस्थित हो गया। इधर एक ऐसी धार्मिक घटना हुई जिसने सर्वसाधारण की बोली को साहित्यिक क्षेत्र में भी संस्कृत के समकक्ष ला खड़ा किया।

बात यह हुई कि जिस कर्मकाण्ड की प्रबलता वैदिक युग में थी दार्शनिकता की बाढ़ से भी वह बह न सकी। उस पर नये नये रंग चढ़ते गये और उसने हिंसात्मक प्रवृत्ति की पराकाष्ठा कर दी।

भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ और उन्होंने अपना नया धर्म चलाया। उन्होंने संस्कृत छोड़ कर देशभाषा को अपनाया और इस प्रकार मध्यकालीन भारतीय आर्य्यभाषा काल का श्री-गणेश हुआ। पर देशभाषायें कई थीं। उनमें से पाली में बौद्धधर्म्म का प्रचार हुआ। इसी समय मे वर्द्धमान महावीर ने

प्राकृतभाषा में अपने धर्म्म का प्रचार किया और प्राकृत भी साहित्यिक रूप धारण करने लगी।

इधर आचार्य्य भरत ने नाट्य-शास्त्र की रचना की। उन्होंने स्वाभाविकता के विचार से नाटको मे भिन्न २ प्रान्तों और परिस्थितिवालों के लिये भिन्न २ भाषाओं का प्रयोग उचित बतलाया। इस प्रकार संस्कृत, प्राकृत और पाली की त्रिवेणी भारतीय साहित्य मे अविच्छिन्नरूप में लगभग ईसा की पांचवीं शताब्दी तक बहती रही। इन भाषाओं में बहुत से धार्म्मिक ग्रन्थ लिखे गये। काव्यों, नाटको और कथा-कहानियों का सृजन हुआ और इनकी विकासावस्था अपनी चरम सीमा को प्राप्त हो गयी। परन्तु इस समय तक इन तीनों में से कोई भी लोक भाषा न रह गई थी। इस समय तक जनता में एक ऐसी भाषा का प्रचार हो गया था जिसे अपभ्रंश नाम दिया गया है।

अब प्रश्न यह है कि अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति कब हुई ? इस सम्बन्ध मे सब से पहले हमें यह देखना चाहिये कि अपभ्रंश शब्द का उल्लेख कहाँ २ हुआ है और किन २ अर्थों मे। सब से पहले अपभ्रंश शब्द का उल्लेख व्याकरण महाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने किया है। उन्होंने लिखा है, "एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।" अर्थात् हर एक शब्द के कई अपभ्रंश (बिगड़े रूप) हैं। जैसे "गौः" शब्द के 'गावी', 'गोणी', 'गोता', 'गोपोतालिका' इत्यादि अपभ्रंश हैं।

पतञ्जलि का समय ईसा से पूर्व की दूसरी शताब्दी है। किन्तु 'अपभ्रंश' से उनका अभिप्राय अशिक्षितों की बिगड़ी हुई संस्कृत से है। ईसा की दूसरी सदी मे वर्त्तमान, नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि के 'विभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' का अर्थ भी शायद "बिगड़ी संस्कृत" ही है। अतएव पतञ्जलि या भरत के समय में जनता की भाषा के रूप मे अपभ्रंश का उल्लेख नहीं माना जा सकता। हाँ, भरत के नाट्यशास्त्र मे सस्कृत और प्राकृत के साथ साथ 'देशभाषा' का भी उल्लेख मिलता है। यथा:—एवमेतत्तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा-प्रकल्पनम्। अर्थात् इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत को जानना चाहिये। इसके आगे मैं देशभाषा के भेद प्रदर्शित करूंगा। किन्तु इसी देशभाषा में उन्होंने शबर, आभीर, चाण्डाल, सचर, द्रविड़, ओड्र तथा बनेचरों की विभाषाओं की गिनती की है। इस प्रकार अपभ्रंशभाषा का उल्लेख स्पष्टरूप मे नाट्यशास्त्र में कहीं नहीं मिलता। किन्तु उनकी विभाषायें किसी ऐसी भाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं जिसे हम अपभ्रंश-भाषा का पूर्वरूप कह सकते हैं।

'विभाषा' से बनती हुई अपभ्रंशभाषा का अभिप्राय भरत-मुनि का हो सकता है। इस बात का पता हमे उनके उन श्लोकों मे मिल जाता है जिनमे उन्होने भिन्न भिन्न देशवालों के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रयोग करने का आदेश नाट्यकारों को दिया है। उन्होंने लिखा है:—

हिमवत् सिन्धु सौवीरान् ये च देशाः समाश्रिताः।

उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

अर्थात्—वे देश जो हिमालय के आसपास हैं, उनके तथा सिन्ध और सौवीर के निवासियों के लिये उकारबहुल भाषा का प्रयोग होना चाहिये। 'उकार' अपभ्रंश का एक सर्वस्वीकृत लक्षण है। अतः इस श्लोक से उपर्य्युक्त देशों में उसके अस्तित्व की सूचना मिलती है। सम्भव है, अभी वह विकसित रूप में न हो, परन्तु उसका विकास और नामकरण आगे चल कर होने पर भी, उसका प्रारम्भिक रूप में, उन देशों में, अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि आभीर जाति का निवास उन्हीं प्रान्तों में था और उन्हीं की भाषा को दण्डी इत्यादि ने अपभ्रंश कहा है (यथा—आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। दण्डी-काव्यादर्श) इस अपभ्रंश भाषा से भरतमुनि का परिचय था इसमे कोई सन्देह नहीं। अपने नाट्यशास्त्र के ३२वें अध्याय में उन्होने छन्दों के लक्षण दिये हैं। उसमें "मोरुल्लउ नचन्तउ" जैसी भाषा भी है जो अपभ्रंश के सिवा कुछ और हो नहीं सकती।

इस से स्पष्ट है कि भरतमुनि के समय में भी यह भाषा थी पर अपने पूर्वरूप या प्रारम्भिक रूप में। इसके बोलनेवाले अभी तक पञ्जाब और सिन्ध आदि प्रदेशों में ही थे। इस समय तक इसका कोई अपना साहित्य न था। अभी तक इसके बोलनेवालों की संख्या बिल्कुल कम थी।

अपभ्रंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बलभी के राजा धरसेन द्वितीय का शिलालेख विशेष महत्त्व का है। वह सुराष्ट्र

या काठियावाड़ में मिला है। धरसेन उसमें अपने पिता के सम्बन्ध में लिखते हैं:—"संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश-भाषात्रयप्रतिबद्ध-प्रबन्धरचना-निपुणान्तः करणः अर्थात् वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में रचना करने में निपुण थे। धरसेन के पिता का नाम गुहसेन था। उनके शिलालेख सन् ५५९ से सन् ५६९ तक के मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि छठी शताब्दी के मध्य में ही अपभ्रंश में साहित्य-रचना होने लगी। यद्यपि अभी तक उस काल की कोई रचना हमें उपलब्ध नहो सकी है। भामह ने, जो सम्भवतः छठी शताब्दी के अन्त में हुए थे, अपभ्रंशभाषा का उल्लेख किया है। वे उसे एक काव्य-भाषा भी स्वीकार करते हैं। यथा:—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं, प्राकृतं, चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

अर्थात्—"शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य कहते हैं वह दो प्रकार का है गद्य और पद्य। फिर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के भेद से वह तीन प्रकार का है। दण्डी ने भी अपभ्रंश को काव्य की चार भाषाओं में से एक बतलाया है। उनके ग्रन्थ काव्यादर्श से यह पता चलता है कि अपभ्रंश में अबतक काफी साहित्य रचना हो चुकी थी और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त एक ऐसी भी अपभ्रंश थी जो सर्वसाधारण यहाँ तक कि अपठित गँवारों की भी बोली थी। दुर्भाग्यवश दण्डी का समय निश्चित नहीं है। पर वह सातवीं और आठवीं शताब्दियों के बीच में ही होना चाहिये।

अब हमें यह देखना है कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा कब से बनी। हम यह देख चुके हैं कि अपभ्रंश की उत्पत्ति भरत के समय में ही हो रही थी। कोई भी भाषा साहित्यिक रूप में आने के पूर्व सर्वसाधारण की बोली अवश्य रहती है। किन्तु साहित्यिक रूप में आने के पूर्व हमें उसका पता ही नहीं चलता। कभी कभी तो वह बोलचाल की भाषा भी रहती है और साहित्यरचना की भी। यद्यपि उसके साहित्यिक रूप में और बोलचाल के रूप में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता ही है। हाँ, यह हो सकता है, कि वह उन सभी लोगों से न बोली जाती हो, जो उसको समझते तथा उसमें साहित्य-रचना करते हों।

उदाहरण के लिये खड़ी बोली को ही ले लीजिये। यह बोलचाल की भी भाषा है और काव्य की भी। पर इसके बोलनेवाले उतने नहीं जितने साहित्य की रचना करनेवाले या उसका स्वाद लेनेवाले। इसके अतिरिक्त प्रियप्रवास, साकेत और कामायिनी की भाषा और बोलचाल की भाषा में बहुत कुछ अन्तर है।

हमने यह देख लिया है कि दण्डी और भामह के समय में ही अपभ्रंश में काफ़ी साहित्य तैयार हो चुका था। साहित्यिक रचना का प्रारम्भ तो गुहसेन के जमाने में ही हो चुका था। अतएव यह सन् ४०० ई० के आसपास में ही बोल-चाल की भाषा अवश्य बन चुकी होगी। इस अनुमान की

पुष्टि महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में पाये जाने-वाले अपभ्रंश पद्यों से भी होती है। यदि वे स्वयं कालिदास के लिखे हुए न भी हों तो भी उन प्रक्षिप्त पद्यों का रचयिता इस बात को स्वीकार करता है कि उक्त नाटक के रचनाकाल में लोगों में अपभ्रंश भाषा का प्रचार था। अतएव हमारा यह दृढ़ अनुमान है कि अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अवश्य हो चुकी होगी।

अपभ्रंशभाषा का बोलचाल में कबतक व्यवहार रहा।

हमने यह देख लिया कि अपभ्रंश की उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हो चुकी थी और छठी शताब्दी के मध्य तक उसमें साहित्य रचना भी होने लगी थी। यहाँ तक कि उसमें साहित्य रचना करना एक सम्मान की बात समझी जाती थी। इस से पता चलता है कि इस समय तक वह सर्वसाधारण में खूब प्रचलित हो चुकी थी और लोकभाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत की तरह अब केवल साहित्य-रचना में ही होता था। दण्डी के बाद अपभ्रंश का उल्लेख रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में किया है। ये ईसा की नवीं सदी में थे। वाक्य के भेदों के सम्बन्ध में ये कहते हैं:—

भाषा-भेद निमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति।
संस्कृत-प्राकृत-मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनीच।
षष्ठो ऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

अर्थात्—भाषा की दृष्टि से इसके छः भेद हैं। संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाची, शौरसेनी और छठी अपभ्रंश, जो देश विशेष के भेदों के कारण बहुत प्रकार की है। यहाँ दो बातें बड़े मार्के की है। एक तो यह कि अब अपभ्रंश की गणना महाराष्ट्री आदि प्राकृतो के साथ निर्भीकरूप से होने लगी थी। दूसरी यह कि यह भिन्न २ प्रदेशों मे प्रचलित होने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार की हो चली थी। यद्यपि प्राकृतों के नाम भौगोलिक हैं जो उनको उन उन प्रदेशों की कभी लोक-भाषा रहने की सूचना देते हैं, तथापि अब वे कहीं नहीं बोली जाती थीं अतः उनमें अब भेद न रह गये थे। सारांश यह कि उनका स्थान अब अपभ्रंश ने ले लिया था।

अपने काव्य-मीमांसा नामक अलंकार ग्रंथ में राजशेखर ने कई स्थानों पर अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उनमें से दो श्लोक देखिये:—

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क भादानकाश्च॥
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति सकविः सर्वभाषानिषण्णः॥
सुराष्ट्र त्रवणाश्च ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम्।
अपभ्रंशवदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

अर्थात्—गौडों की रुचि संस्कृत में, लाटदेशवालों की प्राकृत में, टक्क भदानक इत्यादि मरुभूमिनिवासियों की अपभ्रंश

में, आवन्ती, पारियात्र, तथा दशपुर के निवासियों की पैशाची में, किन्तु मध्यदेश में निवास करनेवाले कवि की रुचि सभी भाषाओं में होती है और वह सब मे निपुण होता है।

सुराष्ट्र, त्रवण तथा अन्यान्य समीपवर्त्ती प्रान्तों के निवासी संस्कृत का प्रयोग सुन्दर ढंग से करते हैं पर उनमें अपभ्रंश का मेल अवश्य बना रहता है।

ऊपर के श्लोकों से यह पता चलता है कि मरु, टक्क, भादानक, सौराष्ट्र, और त्रवणदेश के लोग अपभ्रंश भाषा का अधिक प्रयोग करते थे। यहाँ तक कि उनकी सस्कृत की रचनाओ मे अपभ्रंशपन भरा रहता था। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा मरु, टक्क, भादानक इत्यादि प्रान्तो में बोली जाती थी। आज भी अपभ्रंश और प्राकृत की पुस्तकें प्रायः गुजरात मे पायी जाती है। दिगम्बर जैनो ने अपभ्रंश मे विशेष रूप से ग्रन्थ लिखे हैं। राजशेखर ने दो जगह और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उस से यह पता चलता है कि सुराष्ट्र और मारवाड़ में अपभ्रंश का अधिक प्रचार था और वह अभीतक जनता की भाषासेपृथक् नहीं हुई थी। एक स्थान मे राजशेखर कहते हैं कि राजा के सभी सेवको को अपभ्रंशभाषा मे निपुण होना चाहिये। सेविकाओं को मागधी भी जानने की आवश्यकता है। अन्तःपुर के सेवकों को संस्कृत प्राकृत दोनों का जानना जरूरी है। किन्तु राजा के मित्रों को तो सभी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये। दूसरे स्थान में वे कहते हैं कि राजदरबार मे अपभ्रंश कवियों के बाद चित्र

लेखकर, माणिक्यवन्धक, बैकटिक, स्वर्णकार, वर्द्धकि, लोहकार आदिको बैठाना चाहिये। राजशेखर ने अपने इन कथनों से यह सिद्ध करदिया है कि जिन्हें जनता से सम्बन्ध था उन्हें अपभ्रंश अर्थात् उनकी भाषा जानना परमाश्यक था। यही कारण है कि उसने राजा के सेवको और सेविकाओं का अपभ्रंश जानना जरूरी बताया है तथा अपभ्रंश-कवियों को स्वर्णकार आदि साधारण मनुष्यों के बीच में दरबार में बैठाने का आदेश दिया है। राजशेखर का समय लगभग ९०० ई० है। अतः नवीं सदी तक अपभ्रंश का बोला जाना सिद्ध है।

यही नहीं, ग्वारहवीं सदी मे भी अपभ्रंश के बोल चाल की भाषा होने का प्रमाण मिलता है। नमिसाधु ने सं० ११२५ में या सन् १०६९ मे काव्यालंकार पर एक टीका लिखी। उसमें उन्होने लिखा है :—"तथा प्राकृत मेवा पभ्रंशः। सचान्यैरुप नागराभीर ग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देश विशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्" का० २,१,१५।

अर्थात् अपभ्रंश भी प्राकृतही है। कुछ लोगों ने उपनागर, आभीर, तथा ग्राम्य ये तीन भेद उसके किये हैं। रुद्रट ने उन तीनों भेदों का खंडन करने के लिये ही उसे भूरिभेद कहा है। अपभ्रंश भाषा क्यो बहुत प्रकार की है ? क्योंकि वह भिन्न भिन्न देशों मे बोली जाती है। उन उनदेशों के लोगों से ही उनके लक्षण ठीक ठीक जाने जा सकते हैं। नमिसाधु

के कथन में हमें सब से बड़ी बात यही मालूम पड़ती है, कि अपभ्रंश बहुत देशों मे बोली जाती थी और उसके लक्षणों को ठीक ठीक उसके बोलने वाले ही बतला सकते थे, अतएव नमिसाधु का यह कथन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अभीतक अपभ्रंश भाषा मृत भाषा न हुई थी। इस प्रकार सन् १०६९ तक अपभ्रंश एक जीवित भाषा थी। एक जगह नमिसाधु ने एक ऐसी बात लिखी है जिससे पता चलता है कि मगध मे भी अपभ्रंश का प्रचार हो गया था। दशरूपक से भी मागधी बोलने वालो मे आभीरो की अवस्थिति का पता चलता है। अतः उसके समयतक आभीरी या अपभ्रंश मगध में प्रचलित हो चुकी थी। इसप्रकार नामिसाधु के समय तक अर्थात् ग्यारहवीं सदी तक अपभ्रंश प्रायः सारे उत्तर भारत की देशभाषा हो चुकी थी और उसका बोलचाल मे व्यवहार होता था इसमे सन्देह नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह है कि जब हिन्दी की उत्पत्ति ७ वीं शताब्दी मे ही बतलायी जाती है और हिन्दी का पहला कवि सरह ९ वीं शताब्दी में ही हो चुका है, तब अपभ्रंश-भाषा ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रचलित कैसे रही? इसका उत्तर स्पष्ट है। सरह और कण्ह की भाषा बहुत कुछ हिन्दी से मिलती जुलती होती हुई भी अपभ्रंश ही है। इसके अतिरिक्त प्राचीन बोली का व्यवहार नयी बोली के जन्म काल में भी सर्वथा और सर्वत्र बन्द नहीं हो जाता। कुछ काल तक नवीन और प्राचीन

भाषायें समाज में साथ ही साथ बोलचाल और साहित्य रचना दोनों में ही चलती रहती हैं जैसे आज की ब्रजभाषा। अतएव ग्यारहवीं सदी में अपभ्रंश के जीवित भाषा होने में सन्देह का कोई कारण नहीं।

अपभ्रंशभाषा में कबतक साहित्य-रचना होती रही

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश की उत्पत्ति पाँचवीं सदी में हुई। छठी सदी में उसमे साहित्य-रचना भी शुरू हो गई। आगे चलकर पांच सौ वर्षों तक वह भारत के बहुत से प्रदेशों की बोलचाल की भाषा रही। उसमें बहुत से उपभेद भी मौजूद थे जिन में से किसी एक ही को साहित्यिक रूप मिला। साहित्य रचना भी इस में बड़े जोरशोर से हुई। मालूम होता है सन् १००० तक तो अपभ्रंश भाषा अपने यथार्थ रूपमें जनता की भाषा बनी रही। पर सन् १००० के बाद इसका परिवर्तन आधुनिक देशभाषाओं के रूप में बड़ी तेजी से होने लगा। हिन्दीभाषी प्रान्तों में इसने हिन्दी का रूप धारण किया और अन्यान्य भाषा भाषी प्रान्तों में मराठी, गुजराती, बंगला आदि अन्यान्य भाषाओं का। श्रद्धेय मिश्र बन्धुओं के अनुसार संवत् ८९० से ले कर संवत १२४९ तक अर्थात् ईसा की नवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक (खुमान रासोकार से लेकर चन्दतक) ८ या ९ कवि हिन्दी में रचना कर चुके थे। इनमें से सं० १००० के पूर्व के किसी कवि

की रचना के उदाहरण उन्हों ने नहीं दिये। हाँ, श्री राहुल साङ्कृत्यायन ने सरह इत्यादि सिद्धों की कविताओं के उदाहरण दिये हैं। पर पं० रामचन्द्र जी शुक्ल उनकी रचनाओं को अपभ्रंश-काव्यों में ही गिनते हैं और हमारी भी यही सम्मति है। भुवाल कवि की कविता को शुक्ल जी भी आधुनिक बतलाते हैं और मुझे भी यही बात ठीक जँचती है। जिनवल्लभसूरि की रचना भी जितने अंशतक हिन्दी है उतने अंशतक अपभ्रंश भी। हाँ रावल समर सिंह और महाराज पृथ्वीराज के दान पत्रों में हिन्दीपन अधिक है। ये दान पत्र ईसा की ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण के हैं अतः यह प्रतीत होता है कि अब हिन्दी भाषा लोक-भाषा बन चुकी थी और अपभ्रंश केवल साहिरियक भाषा रह गयी थी।

परन्तु अभीतक अपभ्रंश का साहित्यिक रचनाओं में व्यवहार खूब जारी था। इसके समझने वाले बहुत थे। और इसकी कविता लोगो को बहुत आकर्षक मालूम होती थी। इस समय में आचार्य्य हेमचन्द्र ने इसका एक सुन्दर व्याकरण लिखा। उसमें उन्हों ने अपने से पहले के बहुत से कवियों के पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये। अपने द्वाश्रय काव्य कुमारपालचरित में भी उन्हो ने बहुत से अपभ्रंश के पद्य लिखे। हेमचन्द्र का समय सन् १०८८ से सन् ११७२ तक है, अतएव १२ वीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक महत्व अटल दीख पड़ता है। इसी समय के आसपास में महेश्वर सूरि ने संयम-मञ्जरी लिखी। इसके बाद सोमप्रभाचार्य्य ने कुमारपाल

प्रतिबोध लिखा जिसमें अपभ्रंश के पद्य भी समाविष्ट हैं। सब से पीछे का ग्रंथ प्राकृत-पैंगलम् मालूम होता है जिसमें बहुत से अपभ्रंश भाषा के पद्य मिलते हैं। इस ग्रंथ में स्थान स्थान पर हम्मीर का उल्लेख है। अतएव यह ग्रंथ हम्मीर के पीछे रचा हुआ प्रतीत होता है। हम्मीर का समय कर्नल टाड के मुताबिक सन् १३०२ से सन् १३६६ तक है, अतः इस ग्रंथ की रचना संभवतः १५ वीं शताब्दी में हुई होगी। इस प्रकार अपभ्रंश काव्य का रचना-काल छठी सदी से १५ वीं सदी तक अर्थात् करीब करीब एक हजार वर्ष तक था।

अपभ्रंशभाषा के व्याकरण-ग्रन्थ

अपभ्रंश का कोई स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। प्राकृत-वैयाकरणों ने ही अपभ्रंश का भी व्याकरण अपने ग्रन्थों के अन्त में लिखा है। प्राकृत वैयाकरणों में वररुचि सब से प्राचीन हैं। कोई कोई उन्हें संस्कृत व्याकरण के वार्त्तिककार कात्यायन मानते हैं। पर यह विषय विवाद ग्रस्त है। इतना ही नहीं, अबतो एक प्रकार से निश्चित हो चुका है कि कात्यायन और वररुचि पृथक् पृथक व्यक्ति हैं। वररुचि ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश का व्याकरण नहीं लिखा। अतएव या तो उनके समय तक प्राकृत ही बोल चाल की भाषा रही होगी या अपभ्रंश बोल चाल की भाषा होते हुए भी इतनी अविकसित रही होगी कि उसका व्याकरण लिखना उन्हों ने अनावश्यक समझा होगा।

अपभ्रंश का व्याकरण सब से पहले जैन वैयाकरण चण्ड ने अपने प्राकृत-लक्षणम् नामक ग्रन्थ में लिखा। किन्तु उनके ग्रन्थ में अपभ्रंश के सम्बन्ध मे आजकल केवल एक ही सूत्र मिलता है। दो और सूत्रभी ऐसे मिलते हैं जिन्हें अपभ्रंश पर लागू होनेवाले मान सकते हैं। किन्तु इस ग्रन्थ के कई पाठ हैं। सम्भव है, बहुत से और भी सूत्र चण्ड ने बनाये हों जो अब अप्राप्य हैं।

अपभ्रंश का सब से पूर्ण और सुन्दर व्याकरण जैन साधु हेमचन्द्र ने लिखा है। उन्होंने अपने सिद्धहैम-व्याकरण में ३२९ से ४४८ सूत्रतक अर्थात् १२० सूत्रों में अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है। अपने व्याकरण के चतुर्थ अध्याय में २ रे सूत्र से २५९ सूत्रतक उन्होंने धात्वादेश लिखा है जिसमें प्रायः अपभ्रंश के ही धातु मिलते हैं। इस प्रकार जहाँ उन्हों ने शौरसेनी के लिये २७ मागधी के लिये १६ और पैशाची के लिये २६ सूत्र लिखे हैं वहाँ अपभ्रंश के लिये ३७८ सूत्र लिखे हैं। यदि धात्वादेश छोड़ भी दिया जाय तो भी अपभ्रंश-व्याकरण के १२० सूत्र मिलते हैं। फिर एक एक सूत्र के उदाहरण में एक या एक से अधिक पद्य दिये गये हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। अपने व्याकरण के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने देशीनाममाला नामक एक कोश भी लिखा है। इससे अपभ्रंश-शब्द-भण्डार का बहुत कुछ पता चल जाता है।

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, और सिंहराज ने प्राकृत और

अपभ्रंश के उन सूत्रों की व्याख्या की है, जिन्हें त्रिविक्रम वाल्मीकि-रचित बतलाते हैं। त्रिविक्रम के सूत्र प्राय: हेमचन्द्र के सूत्रों जैसे ही है। उन्हो ने ११७ सूत्रों मे अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है। अतएव इनके सूत्रों की संख्या भी प्राय: हेमचन्द्र के सूत्रों के बराबर ही है। इनकी टीका का महत्त्व इतना हीं है कि इन्हो ने बहुत से उदाहरण संस्कृत-नाटकों तथा प्राकृत-साहित्य से दिये है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश पद्यों की संस्कृत छाया भी उन्हों ने दी है। त्रिविक्रम का समय निश्चित नहीं है पर अनुमानत: वे सन् १४०० के आस पास हुए होंगें।

लक्ष्मीधर ने अपनी षड्भाषा-चंद्रिका में उन्हीं सूत्रों को व्याकरण के विषयो के अनुसार रख कर व्याख्या की है। उसका क्रम सिद्धान्त-कौमदी जैसा है। लक्ष्मीधर ने पर्याप्त उदाहरण नहीं दिये हैं, अतएव अपभ्रंश के अध्ययन मे उन के ग्रंथ से विशेष सहायता नहीं मिलती, लक्ष्मीधर शायद १५ वीं सदी के अन्त में हुए थे।

सिंहराज ने भी त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर के समान वाल्मीकि के सूत्रों पर व्याख्या की है। उनके ग्रन्थ का नाम है प्राकृतरूपावतार। किन्तु उन्हों ने १०८५ सूत्रों मे से केवल ५७५ सूत्रों पर ही व्याख्या लिखी है। वे १८ वी सदी के आरम्भ मे रहे होंगे।

मार्कण्डेय का प्राकृत-सर्वस्व एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। एक तो यह पाश्चात्य या जैन प्राकृत का ग्रन्थ नहीं, दूसरे यह प्राकृत की उपभाषाओं का भी वर्णन करता है, तीसरे यह अपभ्रंश के भी तीन भेदों का उल्लेख करता है और उनके स्वतन्त्र उदाहरण देता है। ये उदाहरण बृहत्कथा, सप्तशती, सेतुबन्ध, गौडवहो, शकुन्तला, रत्नावली, मालतीमाधवम्, मृच्छकटिका, वेणीसंहार, कर्पूर मंजरी, और विलासवती सट्टक आदि ग्रन्थों तथा भरत, कोहल, भट्टि, भोजदेव, और पिङ्गल आदि अलंकारिकों तथा लेखकों की रचनाओं से दिये गये हैं। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण का समाप्ति उडिस्सा के राजा मुकुन्द देव के समय में उनकी राजधानी में ही की थी। यदि यह मुकुन्द देव सन् १६६४ ई० में उडिस्सा में राज करने वाले हों तो मार्कण्डेय का समय १७ वीं शताब्दी हो सकती है। मार्कण्डेय ने पिङ्गल का ही नहीं, प्राकृत-पैंगलम् का भी उल्लेख किया है जिसका समय १५ वीं शताब्दी है, अतएव १७ वीं शताब्दी में वे मजे में रखे जा सकते हैं।

अपभ्रंशभाषा का छन्दः शास्त्र।

जैसे अपभ्रंश भाषा का व्याकरण प्राकृत-व्याकरण से पृथक् नहीं लिखा गया है, वैसे ही अपभ्रंश का छन्दः शास्त्र भी प्राकृत छन्दः शास्त्र से पृथक् नहीं लिखा गया है। इस विषय पर ग्रन्थ तो अनेक लिखे गये होंगे पर प्राकृत-पैंगलम् के सिवा दूसरा कोई ग्रन्थ इस विषय पर हमारे देखने में नहीं आया। प्राकृत-पैंगलम् के भी बहुत से छन्द संस्कृत छन्दः शास्त्र से ही

लिये गये हैं। अतएव प्राकृत या अपभ्रंश के छन्द: शास्त्र में और संस्कृत के छन्द: शास्त्र मे कोई बड़ा भेद नहीं। हाँ, एक अन्तर अपभ्रंश-कवियों की प्रवृत्ति में उल्लेखनीय है। जहाँ संस्कृत में गण वृत्तो की भरमार है वहाँ अपभ्रंश में अक्षर वृत्तो या मात्रा वृत्तो की ही। बात यह है कि अपभ्रंश के गीत सर्वसाधारण के गीत हैं अतएव वे कठिन शास्त्रीय छन्दों की कैद से बँधे नहीं हैं। हाँ, ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक जब अपभ्रंश भी केवल साहित्यिक भाषा ही रह गयी थी, कुछ कठिन शास्त्रीय छन्दों का भी व्यवहार होने लगा था। अपभ्रंश भाषा में दोहा, चौपाइ, कड़वक, घत्ता, रोला, छप्पय आदि मात्रा-वृत्तों का बहुत अधिक व्यवहार हुआ है और यही कारण है कि हिन्दी में भी इन्हीं छन्दों का खड़ी बोली के काव्य भाषा बनने के पूर्व विशेष प्रचार रहा।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य का विस्तार कितना है? इस प्रकार का प्रश्न लगभग २५ वर्ष पूर्व उपहासास्पद प्रतीत होता। कारण यह है कि उस समय तक अपभ्रंश साहित्य का ज्ञान विद्वानों को भी बहुत कम था। अधिक से अधिक हम यही कह सकते थे कि अपभ्रंश भी एक भाषा थी और उसका अपना एक समृद्ध साहित्य रहा होगा। पर आज वह हमें उपलब्ध नहीं है। उस समय तक केवल निम्नलिखित ग्रन्थ ही प्राप्त थे।

(१) कालिदास का विक्रमोर्वशीय जिसके चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के भी कुछ पद्य हैं

(२) प्राकृतपैंगलम्
(३) हेमचन्द्र का व्याकरण
(४) हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित या द्वाश्रयकाव्य
(५) कालिका चार्य्य कहा (६) द्वारावती-विध्वंश
(७) सरस्वती कण्ठाभरण, (८) बेताल पंचविंशतिका
(९) सिंहासन द्वात्रिंशिका और प्रबन्धचिन्तामणि।

किन्तु आज तक अपभ्रंश-साहित्य के बहुत से नये ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं और भविष्य में बहुत से ग्रन्थो के उपलब्ध होने की सम्भावना हैं। ज्यो ज्यों इस सम्बन्ध में खोज होती जायेगी, अधिकाधिक ग्रन्थो को प्राप्ति होती जायगी। अभीतक इतने प्रधान ग्रन्थों का पता हमें लग चुका है जिनमे से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित ही हैं:—

(१) भविसयत्त कहा—धनपालकृत
(२) संजम मंजरी—महेश्वर सूरिकृत
(३) तिसट्ठिमहापुरुषगुणालंकार—पुष्पदंतकृत
(४) आराधना - नयनन्दिन् कृत
(५) परमात्म-प्रकाश—योगीन्द्र देव कृत
(६) वैरसामि चरिउ—वरदत्तकृत
(७) नेमिनाह चरिउ—हरिभद्रकृत
(८) पौमसिरि चरिउ—धाहिलकृत
(९) अन्तरंग संधि
(१०) चौराङ्ग संधि

(११) सुलासाख्यान—देवचन्द्र कृत
(१३) भविस कुटुम्ब चरिउ
(१४) संदेश रसक
(१५) भवनसंधि जयदेव गणिन् कृत
(१६) निम्नलिखित ग्रन्थों में भी अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं—
(क) कुमारपाल प्रतिबोध—सोमप्रभाचार्य्य कृत
(ख) सुपासनाहचरियम्—लक्ष्मण गणिन् कृत
(ग) बौद्धगान ओ दोहा—म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित ।
(घ) प्रवंध-चिन्तामणि-मेरुतुंग
(ङ) शार्ङ्गधर पद्धति-शार्ङ्गधर
च) कीर्त्तिलता—विध्यापति

इस मे सिद्ध है कि अपभ्रंश-साहित्य भी बहुत समृद्ध साहित्यों में से एक था। आगे चल कर ज्यों ज्यों इस साहित्य का अध्ययन होगा और इसके ग्रन्थों की खोज होगी इसकी समृद्धि का पता हमें लगता जायेगा। हिन्दी, बँगला, गुजराती, इत्यादि आधुनिक भाषाओं के साहित्य के अध्ययन के लिये अपभ्रंश साहित्य का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का महत्त्व और सौष्ठव

हम अपनी संस्कृति, सभ्यता और कला के भांडार संस्कृत, पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के अध्ययन से दिनोंदिन

पराङ्मुख होते जा रहे हैं। किन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह हमारी पराधीनता का परिणाम है। स्वतंत्र जातियों में अपनी संस्कृति, सभ्यता और कला का गौरव होता है। वे उनकी रक्षा और अध्ययन में अपना सारा पौरुष खर्च कर देती हैं। इतना ही नहीं, वे संसार के दूसरे-दूसरे उन्नत राष्ट्रों के प्राचीन एवं नवीन साहित्यों से अमूल्य रत्नों का संचय कर अपना साहित्य समृद्ध करती हैं। पर गुलाम जाति आत्मगौरव से वंचित होती है। वह अपने प्रभुओं के साहित्य का अध्ययन बड़े प्रेम से करती है और उसी के विद्वानों को सम्मान और श्रद्धा के साथ देखती है। किन्तु यह बात याद रखनी चाहिये कि जबतक ऐसी मनोवृत्ति बनी रहती है, कोई राष्ट्र उन्नत नहीं होता। आत्मविश्वास, आत्म-गौरव और आत्मनिर्भरता के बिना किसी जाति में स्वतंत्रता प्राप्त करने की क्षमता कभी आ नहीं सकती।

खैर, संस्कृत, प्राकृत और पाली का अध्ययन तो हम कुछ अंशों में करते भी हैं, पर अपभ्रंश के तो नाम से भी लोग प्राय: अपरिचित ही मिलेंगे। कितने बड़े आश्चर्य की बात है कि जो भाषा इस विशाल देश के अधिकांश जन समूह की लगभग ६०० वर्षों तक राष्ट्रभाषा रही, जिसमें लगभग एक सहस्र वर्षों तक साहित्य का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा, और जिससे आज की हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती इत्यादि सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ है, उसके संबंध में हिन्दी मे जो आज राष्ट्रभाषा होने का दावा करती है—और सच्चा दावा

करती है—एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। इधर तो यह उदासीनता है और उधर यूरोपीय भाषाओं में, विशेषतः जर्मन और फ्रेंच में, इस भाषा पर एक से एक सुन्दर ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। इससे बढ़कर लज्जा और परिताप की बात हमारे लिए और क्या हो सकती है ?

हिन्दी की जननी होने के नाते तो अपभ्रंश भाषा हमारे सम्मान की वस्तु है ही, उसका साहित्य भी कम महत्त्व नहीं रखता। यद्यपि उसका अधिकांश भाग हमें उपलब्ध नहीं, और जो उपलब्ध है भी वह प्रायः अप्रकाशित है, तथापि जो कुछ प्रकाशित है, उससे ही उसके महत्त्व की पर्याप्त सूचना मिलती है। हिन्दी का कौन कवि है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसके साहित्य से प्रभावित न हुआ हो ? चंद से लेकर हरिश्चंद्र तक तो उसके ऋणभार से दबे हैं ही, आजकल की नई-नई काव्य-पद्धतियों के उद्भावक भी विचार कर देखने पर उसकी परिधि के बहुत बाहर न मिलेंगे। स्थाली-पुलाक न्याय से यहाँ थोड़े से ही उदाहरण दे देने से इस बात का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है।

किन्तु विभिन्न कवियों की रचनाओं से उदाहरण देने के पहले हम हिन्दी और अपभ्रंश की काव्य-पद्धतियों और भाव-धाराओं की एकता प्रदर्शित करेंगे। रचना के विचार से हिन्दी में आज तक पाँच प्रमुख पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। वे ये हैं—(१) प्रबंध (२) मुक्तक (३) गीत [illegible] -कुण्डलिया

और (५) सवैया-कवित्त। अपभ्रंश में इन सभी पद्धतियों का प्रचार था। उदाहरण के लिए विक्रमोर्वशीय के छंद ही लीजिए। ये मुक्तक भी कहे जा सकते हैं और गीत भी। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अपभ्रंश-साहित्य का प्रारंभ मुक्तक गीतों से ही हुआ है। अब इन पद्धतियों पर हम क्रमशः अलग-अलग विचार करेंगे।

अपभ्रंश भाषा में प्रबंध-काव्यों की भरमार है। अभीतक जो काव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें से पाँच बड़े-बड़े प्रबंध-काव्य है। जैसे—(१) भविसयत्तकहा, (२) तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार, (३) आराधना, ४) नेमिनाह चरिउ और (५) वैरिसामि चरिउ। इनमें से भविसयत्तकहा बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मालूम होता है कि हिन्दी के रामचरितमानस और पद्मावत जैसे जगत्प्रसिद्ध प्रबंध काव्य का आदर्श-ग्रन्थ यही है। इन काव्यों में बहुत-सी बातों में समता है। सबसे पहले तो इन ग्रन्थों का प्रारंभ ईश-वंदना के साथ समान रूप में हुआ है। जिस प्रकार जायसी और तुलसी ने कतिपय ३२ मात्राओंवाली चौपाइयों की अर्धालियों के बाद ४८ मात्राओंवाले दोहे रखे हैं, ठीक उसी प्रकार ३२ मात्राओं की अर्धालियोंवाले पंझटिका या अल्लिला नामक कतिपय छंदों के बाद धनपाल ने ६२ मात्राओंवाला घत्ता नामक छंद रखा है। जिस प्रकार जायसी और तुलसी में तुकों की लड़ी हर एक चरण के अंत में कम से कम प्रत्येक दो चरणों में मिलती है, उसी प्रकार धनपाल में भी। इस प्रकार रचना की दृष्टि से इन तीनों ग्रन्थों की पद्धति बिल्कुल एक है।

मुक्तक काव्यों से तो अपभ्रंश-साहित्य का प्रारंभ ही हुआ था। सरह और कण्ह के दोहे, मुंज की कविता और हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पद्य इस बात के उज्ज्वल दृष्टांत हैं। गीतों की भी अपभ्रंश में काफी प्रतिष्ठा थी। असल में अपभ्रंश-कविता सर्वसाधारण के गीतों ही के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार की कविता का कोई बड़ा ग्रन्थ तो अभी तक नहीं मिलता, पर फुटकर गीत अवश्य मिलते हैं। इसी तरह कवित्त सवैया और छप्पय-कुंडलिया की पद्धतियों के पद्य भी अपभ्रंश साहित्य के ग्रन्थों से बहुत से दिखलाए जा सकते हैं।

भावधाराएं भी अपभ्रंश-साहित्य और हिन्दी-साहित्य में प्रायः एक ही हैं। भक्ति, प्रेम, वीरता करुणा, विरह, रहस्य और अनूठी सूक्तियां, ये ही अपभ्रंश और हिन्दी दोनों साहित्यों की प्रमुख भाव-धाराएँ हैं। हाँ, आधुनिक कविता में देश-प्रेम, स्वाधीनता-प्राप्ति और साम्यवाद की भावनाएँ मिलती हैं, जिनके लिए अपभ्रंश-काव्य-काल तक अवसर ही न था। निम्नलिखित पद्यों से इस बात पर काफी प्रकाश पड़ता है कि हिन्दी कवियों पर अपभ्रंश काव्य का कितना प्रभाव पड़ा है—

अपभ्रंश—

> पर रमणी जे रूअ भरि पिक्खिवि जे विहसंति।
> रागनिबंधण ते णयण जिण जम्महुँ नहिं होंति ॥

अर्थात् जो लोग दूसरे की स्त्री के रूप-भार को देखकर

मुस्कुराते हैं, वे रागासक्त नेत्रवाले जन्म भर जिन (पंक्ति) नहीं होते।

[महेश्वर]

हिन्दी—

परयोषित परसे नहीं, ते जीते जग बीच।
परतिय तकत रैन दिन, ते हारे जग नीच॥

[चंद]

अपभ्रंश—

जे महँ दिण्णा दिअहडा, दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउ जज्जरिआउ णहेण॥

मेरे प्रवासी पति ने जाते समय जो अवधि के दिन दिए थे, उन्हें गिनते-गिनते अँगुलियाँ नखों से क्षत-जर्जर हो गईं।

[हेमचंद्र के व्याकरण से]

हिन्दी—

सखि मोर पिया अजहुँ न आओल कुलिश-हिया।
नखर खोआयलु दिवस लिखि लिखि,
नयन अँधायलु पिय-पथ पेखि॥

[विद्यापति]

अपभ्रंश—

गयण ढलंत सुधारस निझहे, अमिअ पियंतहु जोगिअ पंतिहुं।
ससहरु नमि धरंतिहु कच्छवि, भउ नो पजाइ जरमरणत्तिहु॥
बजाइ बीणा अदिट्ठिहि ततिहि, उट्ठइ रणिउ हणंतउ ट्टाणइं।
जहि बीसाम्बु लहइ तंभायहु, मुत्तिहे कारणि चप्फल भमइं॥

[हेमचंद्र]

ब्रह्मरंध्र से (गगनगुफा से) नीका (इड़ा नामक वाम नासिका) में आनेवाला अमृत पीती हुई और इड़ा को ब्रह्मरंध्र में रखती हुई, योगियों की पंक्तियो को जरा-मरण का भय नहीं उत्पन्न होता। अदृष्टतंत्री से वीणा बजती है। उक्त अदृष्टतंत्री से उर, कंठ इत्यादि स्थानों को आहत करता हुआ अनाहत नाद सुनाई पड़ता है। यह शब्द जहाँ विश्राम पाता है, वहीं अर्थात् ब्रह्मरंध्र मे मनोनियोग कोजिए, क्योंकि मुक्ति का वास्तविक कारण यही है। और कारण तो उपचार वाक्य मात्र हैं।

हिन्दी—

रस गगन-गुफा में अजर झरै।

बिन बाजा झनकार उठे जहँ,
समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने,
तेहि चढ़ि हंसा केलि करै॥
बिन चंदा उजियारी दरसै,
जहँ तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे तारी लागी,
अलख पुरुष जाको ध्यान धरै॥
काल कराल निकट नहीं आवै,
काम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी,
कर्म भरम अघ व्याधि टरै।

कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
अमर होइ कबहूँ न मरै ॥

[कबीर]

अपभ्रंश—

सुणिमित्तइं जाअइं तासुताम ।
गय पयहिणंति उड्डे वि साम ॥
वामंगि मुत्ति रुहरुहइ वाउ ।
पिय मेलावइ कुलकुलइ काउ ॥
वामउ किलकिंचिउ लावएण ।
दाहिणउ अंगु दरिसिउ मएण ॥
दाहिण लोयणु फंदइ सबाहु ।
णं भणइ 'एण मग्गेण जाहु' ॥

[धनपाल]

उसको सुन्दर शकुन दिखाई पड़े। श्यामा पक्षी उड़कर दाहिनी ओर गया। बाईं ओर से मंद-मंद वायु बह रही थी। प्रियतम से मेल करानेवाली ध्वनि में कौआ बोल रहा था। लावा ने बाईं ओर बोलना शुरू किया था और दाहिनी ओर मृग दिखलाई पड़े।

हिन्दी—

दाहिन काग सुखेत सुहावा ।
नकुल दरस सब काहुन पावा ॥

सानुकूल बह त्रिविध बयारी।
सघट सबाल आव वर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरस दिखावा।
सुरभी सनमुख शिशुहिं पिआवा॥
मृगमाला दाहिन दिशि आई।
मंगल गन जनु दीन्ह दिखाई॥

[तुलसीदास]

उल्लिखित कतिपय उदाहरणों से ही हिन्दी कवियों के काव्यों पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। अब मैं अपभ्रंश साहित्य के सौष्ठव का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ।

इस भाषा के कवियों ने मुक्तकों में शृंगार रस के अत्यंत आकर्षक चित्र उपस्थित किए है। मैं नीचे दोनों प्रकार के शृंगारों के उदाहरण देता हूँ।

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं, णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवं तिवं वम्मह निअय-सरु खर पत्थरि तिक्खेइ॥

वह साँवली सुन्दरी ज्यों ज्यों कटाक्षपात करना सीखती है, त्यों त्यों काम अपने बाणों को पत्थर पर पजाता है।

फोड्रेंति जे हियडउं अप्पणउं ताहं पराई कवण घृण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विषमथण॥

लोगो! आत्म-रक्षा करो। क्योंकि बाला के वे विषम स्तन उत्पन्न हो गए हैं, जो अपना भी हृदय फोड़ डालते हैं। फिर

भला उन्हें पराए हृदयों को फोड़ने में कैसे दया आ सकती है ?

वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति ॥

कोई विरहिणी प्रियतम के आने का शकुन सूचित करने के लिये कौवे को उड़ा रही थी। एकाएक उसका पति आता हुआ दिखाई पड़ा। उसकी आधी चूड़ियाँ तो जमीन पर गिर गईं, मगर आधी तड़-तड़ाकर टूट गईं। प्रियतम के दर्शन मात्र से उस में इतनी प्रफुल्लता आ गई कि जो चूड़ियाँ पहले हाथों से निकली जाती थीं, व अब अँट न सकीं और तड़-तड़ाकर टूट गईं। इसी की छाया लेकर बिहारी ने भी निम्नलिखित दोहा लिखा है:—

जौ वाके तन की दशा, देखन चाहत आप।
तौ बलि नेकु बिलोकिए, चलि औचक चुपचाप॥

× × ×

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिअ नवइ सरावि जिवं सव्वंगे पइसीसु॥

अगर किसी प्रकार से प्रियतम को पा जाती तो मैं एक ऐसा काम करती, जिसे अब तक किसी ने भी नहीं किया है। मैं उनके प्रत्येक अंग में ऐसे समा जाती, जैसे नए मिट्टी के वर्तन में पानी।

वहइ मलय वाआ हंत कंपंत काआ।
हवइ सवण रंधा कोइलालाव बंधा॥

सुणिअइ बहु दिहासुं भिंग झंकार मारा।
हणिअ, हणइ हंजे चंड चंडाल मारा॥

हे सखी! मलय वायु बह रही है, शरीर काँप रहा है और कोकिलों का आलाप कानों पर आघात कर रहा है। दशों दिशाओं में भौंरों की झंकार सुनाई पड़ती है। यह चांडाल और क्रोधी काम मेरी हत्या कर रहा है।

वीर रस के भी एक से एक सुन्दर पद्य इस भाषा के साहित्य में मिलते हैं। एक उदाहरण लीजिए।

चलिअ वीर हम्मीर पाअ भर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ॥
दिगमग णह अंधार आणु खुरसाणुक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मार ढिल्लिअ महँ ढोल्ला।

जिस समय वीर हम्मीर युद्ध के लिए चलते हैं, उनके पैरों के भार से पृथ्वी काँपने लगती है। दिशाओं और आकाश में अधंकार छा जाता है और धूल सूर्य्य के रथ को भी ढँक लेती है। दिशाओं में अंधकार छा जाने पर खुरासान देश के वीर को जीत कर लाते हैं। और पैरों के नीचे रौंदकर विपक्षियों को मार डालते हैं। अतः दिल्ली में उनकी विजय-दुंदुभी बजती है।

वीरों की प्रशस्ति का एक पद्य देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है।

सुरतरु सुरही परसमणि नहिं वीरेस समान।
ओवकलु अरु कठिन तनु ओ पशु ओ पाषाने ॥

कल्प वृक्ष, सुरभी और पारस, ये वीरों के समान नहीं, क्योंकि कल्पवृक्ष खालवाला और कठिन है। दूसरों में से एक पशु और एक पाषाण है।

॥ समाप्त ॥

अपभ्रंश-दर्पण

द्वितीय भाग

अपभ्रंश-व्याकरण ।

(१) अपभ्रंश मे एक स्वर का प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है। जैसेः—कच्चित्—कच्चु और काच, वेणी—वेण और वीण, बाहु—बाह, बाहा, बाहु, पृष्ठ—पट्ठि, पिट्ठि, और पुट्ठि; तृण—तणु, तृणु, तिणु, सुकृतम्—सुकिदु, सुकिउ, सुकृदु, क्लिन्न—किन्नउ, किलिन्नउ; लेखा—लिह, लीह, लेह, और गौरी—गउरी, गोरी। 'प्रायः' शब्द का अर्थ यह है कि जहां कोई निश्चित नियम भी दिया गया हो, वहाँ भी महाराष्ट्री या शौरसेनी का शब्द व्यवहृत हो सकता है।

(२) अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों के अन्तिम स्वर विभक्ति लगने के पूर्व कभी ह्रस्व या कभी दीर्घ हो जाते हैं। यथाः— कर्त्ता कारक में :—

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी।

णाइ सुवण्णरेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥१॥

दूल्हा साँवला और धन (नायिका या दुलहिन) चम्पकवर्णी है। मानो कसौटी पर सोने की रेखा खिंची हो।

यहाँ 'ढोल्ल' और 'सामल' के अन्तिमस्वर दीर्घ तथा 'धण' और 'सुवण्णरेह' के अन्तिम स्वर ह्रस्व हो गये हैं।

सम्बोधन—

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया माकुरु दोहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥२॥

हे दूल्हे ! मैंने तुझे चिता दिया था कि दीर्घकाल तक मान न करो। क्योंकि नींद मे ही रात बीत जायगी और शीघ्र ही प्रभात हो जायगा। यहाँ 'ढोल्ल' का सम्बोधन मे 'ढोल्ला' हो गया है।

स्त्रीलिङ्ग में :—

बिट्टीए मइ भणिय तुहुँ मा कुरु वङ्की दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि ॥३॥

अरी लड़की ! मैंने तुझ से कह दिया था कि तू अपनी बाँकी नज़र न चला। अरी लड़की ! वह तो दूसरो के हृदय मे पैठकर टेढी फलकवाली बर्छी के समान मार डालती है। यहाँ 'बिट्टीए' दीर्घ और 'पुत्ति' में ह्रस्व हो गया है।

कर्त्ता कारक बहुवचन में :—

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो न वि वालइ वग्ग ॥४॥

यहाँ घोड़े है; यहाँ युद्धक्षेत्र है, यहाँ तीखी तलवारें हैं, मनुष्य का पौरुष यहीं जाँचा जाता है जब कि वह घोड़े की

लगाम को पीछे नहीं खींचता। यहाँ 'घोड़ामें' घोटक का दीर्घ और 'खग्गा': का 'खग्ग' हो गया है।

इसी प्रकार अन्यान्य विभक्तियों में भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

(३) अपभ्रंश में किसी शब्द का अन्तिम 'अ' कर्त्ता और कर्म की एकवचन विभक्तियों के पूर्व 'उ' में परिवर्तित हो जाता है।

यथा :—

दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रहवरि चडिअउ।
चउमुहु छम्मुहु झाइवि एकहि लाइवि णावइ दइवें घडिअउ॥१॥

भुवन-भयंकर रावण शिवको प्रसन्न कर रथ पर चढ़कर चला। मालूम होता था जैसे देवों ने चतुर्मुख और षडानन का ध्यान कर और दोनों को एक में मिलाकर उसका निर्माण किया था। यहाँ दहमुहु, भयंकरु, संकरु निग्गउ कर्त्ता एकवचन में तथा चउमुहु और छंमुहु कर्म कारक के एकवचन में हैं।

(४) अपभ्रंश में पुँलिङ्ग संज्ञाओं का अन्तिम 'अ' कर्त्ता एकवचन में प्राय: 'ओ' मे बदल जाता है।

अगलिअ नेहनिवट्टाहं जोअणलक्खु वि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ॥१॥

वे जिन का प्रेम कम न हुआ है किन्तु एक दूसरे से लाखों योजन की दूरी पर पड़े हुए हैं यदि सौ वर्ष पर भी मिलें तो सुख की ही बात है। यहाँ 'जो' और 'सो' कर्त्ता एकवचन में हैं जिनके अन्त में 'ओ' है। किन्तु नपुँसक लिङ्ग में केवल 'उ' ही रहेगा।

अङ्गहिँ अङ्गु न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहें मुहकमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥२॥

हे सखी! न तो मेरे अङ्ग से अङ्ग मिले और न अधर से अधर। केवल प्रियतम के मुखकमल को देखते ही सुरत समाप्त हो गया। यहाँ 'अंगु' कर्त्ता एकवचन और मुहकमलु कर्म ए० व० में हैं। यहाँ 'ओ' न होकर 'उ' होगा।

(५) अपभ्रंश में संज्ञाओं का अन्तिम 'अ' करण कारक के एकवचन में 'इ' या 'ए' हो जाता है:—

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥१॥

प्रवास में जाते हुए मेरे प्रियतम ने मुझे जो दिन दिये थे उनको गिनते हुये नखो से मेरी अंगुलियाँ जर्जर होगयीं। यहाँ करण कारक एकवचन मे हमलोग 'दइएँ' और 'नहेण' पाते हैं।

(६) अपभ्रंश में संज्ञाओ का अन्तिम 'अ' अधिकरण कारक मे भी ए० व० मे 'इ' और 'ए' हो जाता है।

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ संमाणेइ खलाइं ॥१॥

समुद्र अपनी सतह पर तो तृण रखता है और रत्नो को नीचे। स्वामी भी अच्छे भृत्यों को छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है। यहाँ अधिकरण कारक में 'तले' या 'तलि' है।

(७) अपभ्रंश में करण कारक के बहुवचन में अन्तिम 'अ' के स्थान में विकल्प से 'ए' होता है।

गुणहिं न संपइ किसि पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेंहिं घेप्पन्ति ॥१॥

"गुणों से संपत्ति नही पर कीर्त्ति मिलती है। बात यह है, कि जो भाग्य में लिखा रहता है वही फल मिलता है। केशरी का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं मिलता पर हाथियों के लिये लाखों रुपये प्राप्त होते हैं। यहाँ 'गुणहिं' और 'लक्खेंहिं' तृतीया बहुवचन में हैं।

(८) अपभ्रंश में अकारान्त शब्दों में अपादान एक वचन में 'हे' या 'हु' विभक्तियाँ लगती हैं।

वच्छहे गृण्हइ फलइँ जणु कडु पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुम सुअणु जिवँ ते उच्छङ्गि धरेइ ॥१॥

वृक्षों से लोग फल ग्रहण कर लेते हैं और कटु पल्लवों को छोड़ देते हैं। तौभो वृक्ष सज्जनों के समान उनको अपनी गोद में रखलेता है। यहाँ वच्छहे या वच्छहु एक वचन अपादान में हैं।

(९) अपभ्रंश में अकारान्त शब्दों के परे अपादान बहुवचन में 'हुँ' विभक्ति लगती है।

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुँ पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ॥१॥

ऊँचे से उछलकर गिरता हुआ खल अपने साथ साथ औरों को भी मारडालता है। जैसे गिरिशृङ्गों से गिरती हुई

शिला अपने साथ अन्यान्य वस्तुओं को भी चूर कर डालती है। यहाँ 'गिरि सिङ्गहुँ' अपादान बहुवचन है।

(१०) सम्बन्ध कारक के एक वचन में अकारान्त शब्दों में 'सु' 'हो' और 'स्सु' विभक्तियाँ लगती हैं।

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥१॥

मैं उस कलियुग में दुर्लभ सज्जन की बला लेता हूं जो अपने गुणों को छिपाता तथा दूसरों के गुणों को प्रकट करता है। यहाँ परस्सु, तसु, दुल्लहहो सम्बन्ध कारक के एकवचन में है।

(११) सम्बन्ध के बहुवचन में अकारान्त शब्दों में 'हँ' विभक्ति लगती है।

तणहँ तइज्जी भङ्गि नवि तें अवड-अडि वसन्ति।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति ॥१॥

"उन घासों की तीसरी गति हो ही नहीं सकती जो किसी गड्ढे के किनारे जमती हैं। या तो लोग उन्हें पकड़ कर ऊपर चढ़ आते हैं या उनके साथ स्वयं डूब जाते हैं। यहाँ 'तणहँ' सम्बन्ध कारक ब० व० में हैं।

(१२) सम्बन्ध कारक में ब० व० में इकारान्त, उकारान्त शब्दों में 'हुँ' या 'हं' विभक्तियाँ लगती हैं।

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ सउणिहँ पक्क फलाइँ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खल वयणाइं ॥१॥

दैव ने बन में वृक्षोंपर पक्षियों के लिये पके फल बनाये हैं। उस सुख का उपभोग करना (बनमें फलखाकर रहना) अच्छा है किन्तु कानो में दुष्टों के बचनों का पैठना अच्छा नहीं। यहाँ 'तरुहुँ' 'सउणिहँ' सम्बन्ध कारक बहुबचन हैं।

अधिकरण कारक बहुबचन में हुँ का प्रयोग हो सकता है:—

धवलु विसूरइ सामिअ हो गरुआ भरु पिक्खेवि।
हउँ किन जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥२॥

धौरा बैल अपने स्वामी का भारीभार देखकर विलाप करता और कहता है। मेरे दो खण्ड कर के मुझे हो क्यों नहीं जोत दिया गया। यहाँ 'दुहुँ' में 'हुँ' है।

(१३) अपभ्रंश में इकारान्त उकारान्त शब्दों के परे अपादान एकबचन में 'हे' अपादान बहुबचन में 'हुँ' और अधिकरण एक बचन में 'हि' विभक्तियों का प्रयोग होता है।

गिरिहें सिलायलु तरुहें फलु घेप्पइ नीसावँनु।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तोविन रुच्चइ रन्नु ॥१॥

पर्वतों से शिला और वृक्षो से फल सब कोई एक समान ले सकते हैं। तौभी मनुष्यों को घर छोड़ कर बन नहीं अच्छा लगता। यहाँ 'गिरिहे' और 'तरुहे' अपादान एकबचन में हैं।

तरुहुँ वि वक्कलु फलु मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥२॥

मुनिजन भी वृक्षों से वल्कल पहनने और फल खाने के लिये पाते हैं। भृत्य अपने स्वामियो से केवल प्रतिष्ठामात्र इस से अधिक पाते हैं। यहाँ अपादान बहुवचन में 'तरुहुँ' और 'सामिहु' हैं।

अह विरलपहाउ जि कलिहि धम्मु ॥३॥

निस्सन्देह, कलियुग में धर्म्म का प्रभाव बहुत कम हो गया है।

(१४) अपभ्रंश मे एकार और ओकार के परे करण कारक एकवचन मे 'ए' या एण हो जाता है। जैसे दइएं पवसन्तेण यहाँ दोनो ही करण कारक एकवचन मे हैं।

(१५) इकारान्त और उकारान्त शब्दो के परे करण कारक के एकबचन मे 'एं', अनुस्वार, और 'ण' विभक्तियाँ लगायी जाती हैं।

अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केँवँ ॥१॥

संसार अग्नि से उष्ण तथा वायु से शीतल होता है। किन्तु जो अग्नि से शीतल होता है उसकी उष्णता कैसे हो सकती है। यहाँ 'अग्गिएँ' और 'वाएँ' करण कारक एकबचन हैं।

विप्पिअ-आरउ जइविपिउ तोवितं आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥२॥

यद्यपि हमारे प्रियतम हमारे अप्रियकारक हैं तथापि हे सखी! उन्हें आज ला। यद्यपि आग से घर जल जाता है

तथापि हमें आग से ही काम है। यहाँ 'ण' और अनुस्वार 'अग्गिण' और 'अग्गिं में हैं जो करण कारक एकवचन हैं।

(१६) अपभ्रंश भाषा में कर्त्ता और कर्म कारक के एकवचन और बहुवचन विभक्तियों का प्रायः लोप हो जाता है। उदाहरण के लिये (२) के चौथे पद्य 'एइ ति घोड़ा' इत्यादि को देखिये। यहाँ कर्त्ता एकवचन ('मुणीसिम') कर्म एकवचन (वग्ग) कर्त्ता बहुवचन (घोड़ा) की विभक्तियों का लोप हो गया है।

> जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
> तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर पत्थरि तिक्खेइ ॥१॥

वह साँवली (युवती) ज्यों ज्यों (अधिक) नेत्रों की कुटिलता (कटाक्षपात) सीखती है त्यों ही त्यों काम अपने बाणों को कठोर पत्थर पर पजाकर तेज करता है। यहाँ वंकिम कर्म एकबचन, सामलि कर्त्ता एकवचन और निअअसर कर्म बहुवचन में हैं इन सबों की विभक्तियों का लोप हो गया है।

(१७) अपभ्रंश में सम्बन्ध कारक की विभक्तियों का प्रायः लोप हो जाता है।

> संगर-सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु।
> अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय कुम्भइँ दारन्तु ॥१॥

मेरे प्रियतम को देखो जिनका वर्णन सैकड़ों युद्धों में होता है। वे अत्यन्त मतवाले और अंकुश से वश में न आनेवाले

हाथियों के सिरों को फाड़ रहे हैं। यहाँ 'गय' 'गजानाम्' के बदले में आया है।

(१८) अपभ्रंश में सम्बोधन कारक के बहुवचन में 'हो' अव्यय का प्रयोग होता हैं। तरुणहो, तरुणिहो, मुणिउ मइँ करहु म अप्पहो घाउ। ऐ तरुणो ! हे तरुणियो ! मैंने जानलिया। आत्मघात न करो।

(१९) अपभ्रंश में करण कारक बहुवचन तथा अधिकरण कारक बहुवचन मे 'हिं' विभक्ति का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये (७) नियम का पहला पद्य 'गुणहिं न संपय' देखिये— 'गुणहिं' करण कारक बहुवचन है।

भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ ॥१॥

भागीरथी के समान भारती भी तीन मार्गों से प्रवर्तित होती है। यहाँ 'मग्गेहिं' 'तिहिं' अधिकरण कारक बहुवचन है।

(२०) कर्त्ता और कर्म बहुवचन में स्त्रीलिङ्ग शब्दों मे 'उ' और 'ओ' विभक्तियाँ लगती हैं। जैसे अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण (कर्त्ता बहुवचन)

सुन्दर-सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण ॥१॥

(कर्म बहुवचन) सर्वाङ्गसुन्दरी विलासिनिओं को देखते हुओं का।

(२१) स्त्रीलिङ्ग शब्दो के करण कारक एकवचन में 'ए' विभक्ति लगती हैं।

निअ मुहकरहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ।
ससि-मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ ॥१॥

जहिं मरगय-कन्तिए संवलिअं ॥२॥

अपने मुखचन्द्र की किरणों से मुग्धा अपना हाथ अन्धकार में भी देखती है। तब चन्द्रमण्डल की चन्द्रिका से वह दूरकी वस्तु क्यों न देखेगी ॥१॥

जहाँ कोई वस्तु मरकत कान्ति से घिरी हो ॥२॥

(२२) अपादान और सम्बन्ध कारक के एकवचन में स्त्रीलिङ्ग शब्दों में 'हे' विभक्ति लगती है।

तुच्छ-मज्झहे तुच्छ-जम्पिरहे।
तुच्छच्छ-रोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयर-हास हे।
पिय-वअणु अलहन्तिअहे तुच्छकाय-वम्मह-निवासहे।
अन्नु जु तुच्छउँ तहें धणहे तं अक्खणह न जाइ।
कटरि थणन्तरु मुद्धडहे जें मणु विच्चिन माइ ॥१॥

आश्चर्य्य है कि उस सुन्दरी का सबकुछ सूक्ष्म है। कमर सूक्ष्म है। सूक्ष्म वचन बोलती है। सूक्ष्म और सुन्दर उसकी रोमावली है। सूक्ष्मरागवाली है। सूक्ष्महीं उसकी हँसी है। प्रियतम का कोई खबर न पाकर सूक्ष्म शरीरवाली हैं। और भी उसमें जितनी सूक्ष्मता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आश्चर्य्य है, उसके स्तनों के बीच कितना सूक्ष्म

अवकाश है जिनके बीच में मन भी नहीं समा सकता। यहाँ 'हे' जिनके अन्त में है, वे सभी शब्द सम्बन्ध कारक एकवचन हैं।

फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराई कवण घृण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसमथण ॥२॥

जो अपने ही हृदय को फोड़ डालते हैं उनको दूसरों पर कौन दया हो सकती है ? हे लोगो ! उस बाला से अपनी रक्षा करो। उस के विषमस्तन उत्पन्न हो गये। 'बालहे' अपादान एकवचन में है।

(२३) अपादान और सम्बन्ध कारकों के बहुबचन में स्त्रीलिङ्ग शब्दों में 'हु' विभक्ति लगती है।

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥

हे बहिन ! यह अच्छा हुआ जो मेरे पति युद्ध में मारे गये। यदि वे भाग कर घर आते तो सखियों के सामने मैं लज्जित होती। सम्बन्ध और अपादान (बहुबचन) में 'वयंसिअहु' रूपही होगा।

(२४) स्त्रीलिङ्ग में सप्तमी एकवचन में 'हि' विभक्ति लगती है।

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥१॥

कौए को उड़ाती हुई विरहिणी ने अपने प्रियतम को सहसा आते देखा। उसकी आधी चूड़ियां जमीन पर गिरपड़ीं और आधी तड़तड़ा कर फूट गईं। यहाँ 'महिहिं' सप्तमी एकवचन है।

(२५) कर्त्ता और कर्म कारकों में बहुवचन में नपुंसकलिङ्ग में 'इं' विभक्ति लगती है।

> कमलइँ मेल्लवि अलि- उलइँ करिगण्डाइं महन्ति।
> असुलहमेच्छण जाहँ भलि ते णवि दूर गणन्ति ॥१॥

भौंरे कमलों को छोड़ कर हाथियों की कनपटी चाहते हैं। कठिन वस्तुओं की इच्छा जिनको होती है वे दूरी का ख्याल नहीं करते हैं। यहाँ अलि-उलइं कर्त्ता बहुवचन और कमलइं तथा करिगण्डाइं कर्म कारक बहुवचन हैं।

(२६) कर्त्ता एवं कर्म कारकों की एकवचन विभक्तियों के पूर्व नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त शब्दों का 'अ' 'उ' होता है। यहाँ उस अकारान्त से अभिप्राय है जो वास्तव में ककारान्त होता है।

> भग्गउँ देक्खिवि निअय-वलु वलु पसरिअउं परस्सु।
> उम्मिलइ ससिरेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥१॥

अपनी सेना को भग्न तथा शत्रु की सेना को फैली हुई देखकर मेरे प्रिय के हाथ में तलवार बांके चन्द्रमा के समान चमकने लगी। यहाँ 'भग्गउँ' वलु, पसरिअउं इत्यादि इस नियम के उदाहरण हैं।

टिप्पणी—यहाँ तक पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, तथा नपुंसकलिङ्ग, संज्ञाओं की विभक्तियों का वर्णन हुआ। अब यहाँ पर हेमचन्द्र के अनुसार उक्त संज्ञाओं का शब्द-रूप दे देना इस विषय की स्पष्टता में अधिक सहायक होगा। अपभ्रंश मे सम्प्रदान कारक की विभक्ति नहीं है।

पुंल्लिङ्ग संज्ञायें।

अकारान्त।

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—देव, देवा, देवु, देवो	देव, देवा
कर्म—देव, देवा, देवु	देव, देवा
करण—देवे, देवें, देवेण (देविण) (देविं)	देवहिं, देवेहिं
अपादान—देवहे, देवहु	देवहुं
सम्बन्ध—देव देवसु देवस्सु देवहो देवह।	देव, देवहं
अधिकरण—देवे, देवि	देवहिं
सम्बोधन—देव, देवा, देवु, देवो,	देव, देवा, देवहो।

इकारान्त।

एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—गिरि, गिरी,	गिरि, गिरी
कर्म—गिरि, गिरी,	गिरि, गिरी
करण—गिरिएं, गिरिण, गिरिं	गिरिहिं
अपादान—गिरिहे	गिरिहुं
सम्बन्ध—गिरि गिरिहे	गिरि गिरिहं, गिरिहुं
अधिकरण—गिरिहि	गिरिहुं
सम्बोधन—गिरि, गिरी	गिरि, गिरि, गिरिहो

सभी इकारान्त और उकारान्त पुँल्लिङ्ग संज्ञाओं के रूप गिरि की तरह चलते है।

नपुंसक संज्ञायें

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता और कर्म—	कमल, कमला	कमल कमला कमलइं कमलाइं
	वारि वारी	वारि, वारी, वारिइं, वारीइं
	महु, महू	महु, महू, महुइं महूइं

शेष कारकों में पुल्लिङ्ग के समान ही रूप चलते है।

ककारान्त।

कर्त्ता और कर्म—तुच्छउं

शेष विभक्तियों में कमल के ऐसे रूप होते हैं।

स्त्रीलिङ्ग संज्ञायें

(मुग्धा—मुद्धा)

कर्त्ता—मुद्ध, मुद्धा	मुद्धाउ, मुद्धाओ
कर्म—मुद्ध, मुद्धा	मुद्धाउ, मुद्धाओ
करण—मुद्धए (मुद्धइ)	मुद्धहिं
अपादान—मुद्धहे (मुद्धहि)	मुद्धहु
सम्बन्ध—मुद्धहे (मुद्धहि)	मुद्धहु
अधिकरण—मुद्धहि	मुद्धहिं
सम्बोधन—मुद्ध, मुद्धा,	मुद्ध, मुद्धा, मुद्धहो, मुद्धाहो।

सभी स्त्रीलिङ्ग इ ई उ और ऊ से अन्त होनेवाली संज्ञाओं के रूप मुद्धा ही कीतरह चलते हैं।

(२७) अकारान्त सर्वनामो मे अपादान कारक एकवचन में 'हां' विभक्ति लगती है। यथा (क) जहां होन्तउ आगदो। तहां होन्तउ आगदो। कहां होन्तउ आगदो। जहाँ से आप आये। तहाँ से आप आये। कहाँ से आप आये। यहाँ जहां – यत्र, तहां – तत्र, कहां – कुत्र, होन्तउ – भवान्।

(२८) 'किम्' (क्या) का अपादान एकवचन पुँल्लिङ्ग रूप अपभ्रंश मे 'किहे' है।

> जइ तहे तुट्टउ नेहडा मईं सहुँ न वि तिल—तार॥
> तं किहे वङ्केहिं लोअणेहिं जोइज्जउँ सय—वार॥

'यदि उसका मेरे प्रति वह प्रेम जो तिल के समान था टूट गया और अब शेष नहीं रहा तो मैं उससे वक्रनेत्रों से क्यों सैकड़ो बार देखी जा रही हूँ"। यहां किम्—किहे"। 'तिल-तार' का अर्थ है स्नेह से उसीप्रकार पूर्ण जिस प्रकार तिल तेल से पूर्ण होता है।

(२९) 'अकारान्त सर्वनामों के अधिकरण कारक में एकवचन में 'हिं' विभक्ति लगती है।

> जहिँ कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
> तहिँ तेहइ भडघडनिवहि कन्तु पयासइ मग्गु॥१॥

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दउ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थलें सरउ॥
अङ्गिहि गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिरु।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु॥२॥
हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउँ हय विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्खसयाइं॥३॥

"जहाँ शरों से शर तथा खड्गों से खड्ग काटे जाते हैं, उस भट-घटा-समूह मे मेरे कान्त मार्ग प्रकाशित करते हैं" ॥१॥ यहाँ जहिं और तहिँ अधिकरण कारक एक वचन हैं।

इस पद्य में किसी विरहिणी की दशा का वर्णन है:—

"उस सुन्दरी की एक आँख में श्रावण और दूसरी में भाद्रपद है। उसकी शय्या पर माघ मास और गण्डस्थल पर शरत् है। अङ्गो में ग्रीष्म तथा बैठने की अवस्था रूपी तिल-वन मे मार्गशीर्ष है। उस मुग्धा के मुखपङ्कज मे शिशिर बसा है"। अर्थात् उसकी आखों से श्रावण और भाद्रपद की वर्षा के समान आँसू की धारा गिरती है। उसकी शय्या इतनी ठंडी मालूम होती है जैसी माघमास की रात। उसकी देह इतनी गरम है जितने ग्रीष्म के दिन। आराम से बैठना उसे उसी प्रकार दूभर हो गया है जैसे अगहन में तिल के खेत। और उसका मुँह वैसेही पीला पड़ गया है वा मुरझा गया है जैसे शिशिर के कमल ॥२॥ यहाँ 'एक्कहिं' और 'अन्नहिं' अधिकरण कारक एकवचन में हैं।

ऐ हृदय ! तड़तड़ा कर फट जा। कालक्षेप क्यों कर रहा है? देखें मेरा दुर्भाग्य तेरे बिना इन सैकड़ों दुःखों को कहाँ रखता है?" यहाँ 'कहिं' अधिकरण कारक एकवचन है।

(३०) जब 'यत्' 'तत्' और 'किम्' के अन्त में अकार रहता है तो विकल्प से उनके सम्बन्ध कारक एकवचन में 'आसु' विभक्ति लगती है।

> कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छईं रूसइ जासु।
> अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिंवि ठाउ वि फेडइ तासु ॥१॥
> जीविउ कासु न वल्लहउँ धणुपुणु कासु न इट्ठु।
> दोण्णि वि अवसर-निवडिअइ तिण-समगणइ विसिट्ठु ॥२॥

हे सखी ! यदि मेरे कान्त किसी से रूठ जाते हैं तो अस्त्रों, शस्त्रों और हाथो से उसके स्थान तक कोभी तोड़फोड़ डालते हैं। यहाँ सं० एकवचन में 'जासु' और "तासु" है।

"जीवन किसे प्यारा नहीं है? धन किसे इष्ट (प्रिय) नहीं है? किन्तु विशिष्ट (भला) पुरुष अवसर आ जाने पर दोनों ही को तृण के समान समझता है। यहाँ सम्बन्ध कारक एकवचन में 'कासु' है।

(३१) यत्, तत् और किम् सर्वनामों के स्त्रीलिङ्ग में सम्बन्ध कारक एकवचन में 'अहे' विभक्ति लगती है। (१) जहे केरउ। (२) तहे केरउ। (३) कहे केरउ। (१) जिसके लिये (२) उसके लिये। और (३) किसके लिये।

(३२) कर्त्ता और कर्म कारकों के एकवचन में 'यत्' और तत् सर्वनामों के बदले क्रम से 'ध्रुं' और 'त्रं' का विकल्प से प्रयोग होता है।

प्रङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रुं त्रं रणि करदि न भ्रन्ति ॥१॥
त बोल्लिअइ जु निव्वहइ ॥२॥

"मेरे पति आँगन में खड़े हैं अतएव वे युद्ध में नहीं घूम रहे हैं'॥१॥ यहाँ 'नाहु ध्रुं' और 'त्रं रणि' उपर्युक्त नियम के उदाहरण हैं।

"वही बोलना चाहिये जो निबहे। यहाँ ध्रुं और त्रं का प्रयोग नहीं हुआ है।

(३३) कर्त्ता और कर्म कारक के एकवचन में 'इदम्' का नपुँसक लिङ्ग में 'इमु' हो जाता है। इमुकुलु – यह कुल। इमुकुलु देक्खु = यह कुल देखो।

(३४) 'एतद्' का कर्म और कर्त्ता कारक एकवचन स्त्रीलिङ्ग में एह' पु० में 'एहो' और नपुसक में 'एहु' होता है।

एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु।
एहउँ वढ चिन्तन्ताह पच्छइ होइ विहाणु॥

"यह मेरी कुमारी है। यह मैं पुरुष हूँ। और यही मेरे मनोरथ का स्थान है"। जब तक मूर्ख मनुष्य इसी प्रकार सोचता रहता है तबतक प्रभात हो जाता है। यहाँ 'एह कुमारी

'एहो नड' और 'एहु मणोरह ठाणु' उपर्युक्त नियम के उदाहरण हैं।

(३५) 'एतद्' का कर्त्ता बहुवचन और कर्म बहुवचन एइ है। उदाहरण के लिये २ रे का ४ था पद्य देखिये।

(३६) 'अदस्' का कर्त्ता और कर्म बहुवचन 'ओइ' है

जइ पुच्छह घर वड्डाइ तो वड्डा घर ओइ।
विहलिअ-जण-अब्भुधरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥१

"यदि बड़े घर पूछते हो तो बड़े घर वे हैं। शोकविह्वल जनों के उद्धार करनेवालों को यदि पूछते हो तो हमारे कान्त को कुटी में देखो"। यहाँ 'ओइ' उपर्युक्त नियम का उदाहरण है।

(३७) 'इदम्' सर्वनाम का, विभक्ति लगने के पूर्व, 'आय' रूप हो जाता है।

आयइँ लोअहो लोअणइँ जाई सरइँ न भन्ति।
अप्पिए दिट्ठइ मउलिअहिं पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥१॥
सोसउ म सोसउ चिअ उअही वडवानलस्स किं तेण।
ज जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्त ॥२॥
आयहो दड्ढ कलेवरहो ज वाहिउ त साह।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥३॥

"इस में कोई सन्देह नहीं कि इस ससार के लोग अपने पूर्व जन्म की बातें याद करते हैं। उनकी आंखे प्रियजनों को

देखकर विकसित हो जाती हैं और अप्रियजनों को देखकर बंद हो जाती हैं। यहाँ 'आयइँ' ॥१॥

चाहे समुद्र सूखे या नहीं इससे बडवानल का क्या ? जल में भी आग लगती है क्या यही उसकी वीरता के लिये पर्य्याप्त नहीं है ? "आएण" ॥२॥

इस अभागे शरीर से जो प्राप्त हो जाय वही सार है। यदि इसे ढँक दिया जाय तो महँकने लगे और यदि जला दिया जाय तो चार ही रह जाय। यहाँ आयहो ॥३॥

(३८) अपभ्रंश में 'सर्व' शब्द का विकल्प से 'साह' आदेश हो जाता है।

साहु वि लोउ तडफ्फडइ वडत्तणहो तणेन ।
बडप्पणु परि पाविअइ हत्थिं मोक्कलडेन ॥१॥

समस्त संसार महत्त्व के निमित्त प्रयत्न करता है। किन्तु बड़प्पन मुक्तहस्त से दान देने से ही प्राप्त होता है। यहाँ साहु। पक्ष में 'सव्व' भी होता है।

(३९) 'किम्' सर्वनाम के बदले में विकल्प से 'काइं' या 'कवण' भी होते हैं।

जइ न सु आवइ दूइ घरु काइँ अहो मुहु तुज्झु।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥१॥

हे दूती ! यदि वह घर नहीं आता तो तुम क्यों मुख लटकाये हुई हो। जो तेरी बात नहीं मानता वह मेरा प्रिय नहीं हो सकता।

काइँ न देक्खइ—क्यों न देखेगी? (नियम २१ का प्रथम पद्य देखें) ॥२॥

फोडेन्ति जे हियडउ—(नियम २२ का दूसरा पद्य देखें) ॥३॥

सुपुरिस कङ्गुहें अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।
जिवँ जिवँ-वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ॥४॥
पत्तमें-जइ ससनेही तौ मुइअ अह जीवइ निम्नेह।
बिहिंवि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ॥५॥

सत्पुरुष कङ्गु वृक्ष का अनुसरण क्यों करते हैं? ज्यों ज्यों वे बड़प्पन प्राप्त करते हैं त्यो त्यो शिर झुका लेते हैं ॥४॥ यहाँ किम् का कवण हो गया है।

कोई विरही मेघ को सम्बोधन कर कह रहा है। यदि उसको मुझसे प्रेम था तो वह मर चुकी होगी। अगर वह जीती है तो उसको मुझ से स्नेह नहीं। दोनो प्रकार से वह मुझसे जाती रही। रे दुष्ट मेघ! तू क्यो गरज रहा है ॥५॥ यहाँ 'किम्' का 'किं' ही रह गया है।

(४०) अपभ्रंश मे कर्त्ता एकवचन में युष्मद् का 'तुहुँ' आदेश हो जाता है।

भमर म रुणझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
- सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥१॥

ऐ भ्रमर ! रुनझुन शब्द न कर, उस तरफ देख और रो मत। जिस मालती फूल के वियोग के कारण तू मर रहा है, वह दूर के किसी देश में है। यहाँ 'युष्मद्' का 'तुँहुं' हो गया हैं।

(४१) अपभ्रंश मे 'युष्मद्' शब्द का कर्त्ता बहुवचन और कर्म बहुवचन मे तुम्हे और तुम्हइ आदेश होते हैं जैसे:—तुम्हे तुम्हइं जाणह। 'तुम जानते हो'। तुम्हे तुम्हइ पेच्छइ। तुम देखते हो।

(४२) करण एकवचन, कर्म एकवचन और अधिकरण एकवचन में 'युष्मद्' का पइँ और तइँ आदेश होता है।

करण एकवचन:—

> पइँ मुकाहँ वि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं।
> तुह पुणु छाया जइ होज्ज कहविता तेहि पत्तेहिं ॥१॥
> महु हिअउँ तइँ ताए तुहुँ स बि अन्नें विनिडिज्जइ।
> पिअ काइँ करउँ हउँ काइँ तुहुँ मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥२॥

"हे तरुवर ! तुम से पृथक् होने पर भी पत्रो का पत्रत्व नहीं नष्ट होता। किन्तु यदि तुम्हें छाया से प्रयोजन हो तो उन्हीं पत्रो से ही पा सकते हो ॥१॥

कोई नायिका किसी अन्य नायिका में आसक्त प्रेमी से कहती है।

मेरा हृदय तेरे वश में है, किन्तु तेरा हृदय उसके वश में है। परन्तु वह भी किसी दूसरे के प्रेम से पीड़ित है। हे प्रियतम !

मैं क्या करूं ? या तुम्ही क्या करोगे ? बस मछली को मछली ही तो निगल जाती है ॥८॥ यहाँ पइँ और तइँ उपर्युक्त नियम के उदाहरण हैं।

अधिकरण एकवचन:—

> पइँ मइँ बेहिं वि रणगयहिं को जय-सिरि तक्केइ ।
> केसहिँ लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु कोथक्केइ ॥३॥

जब हम और तुम दोनो रण क्षेत्र मे रहेंगे तो विजय की आशा दूसरा कौन कर सकता है ? भला कहो तो यमराज की गृहिणी का केश खीचकर कौन सुख से रह सकता है ? यहाँ 'पइँ' है। इसी प्रकार तइँ का प्रयोग हो सकता है।

कर्म एकवचन: –

> पइँ मेल्लन्तिहे महु मरणु मइँ मेल्लन्तहो तुज्झु ।
> सारस जसु जो वेग्गला सोवि कृदन्त हो सज्झु ॥४॥

अगर मै तुमको छोड़ दूँ तो मेरी मृत्यु हो जायेगी। और यदि तुम छोड़ दो तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। जोही पृथक रहेगा वही मर जायेगा। इसी प्रकार तइँ का भी प्रयोग हो सकता है।

(४३) करण कारक बहुवचन में 'युष्मद्' के स्थान मे 'तुम्हेहिं' आदेश होता है।

> तुम्हेहिँ अम्हेहिँ जं किअउँ दिट्ठउँ बहुअ-जणेण ।
> तं तेवड्डउ समरभरु निज्जिउ एक्क-खणेण ॥१॥

"तुमने और हमने जो किया सो बहुत लोगों से देखा गया है। क्योंकि हमलोगो ने इतना बड़ा युद्ध एक क्षण में ही जीत लिया है।"

(४४) अपभ्रंश में युष्मद् शब्द के अपादान और सम्बन्ध एकवचन मे तउ, तुज्झ और तुध्र ये तीन आदेश होते हैं। जैसे तउ होन्तउ आगदो। तुज्झ होन्तउ आगदो। तुध्र होन्तउ आगदो। तुम्हारे यहाँ से आया है।

तउ गुण संपइ तुज्झ मदि तुध्र अणुत्तर खन्ति।
जइ उप्पत्ति अन्न जण महि-मडलि सिक्खन्ति॥१॥

"यदि इस पृथ्वीमण्डल के अन्य मनुष्य भी आपकी गुणसंपत्ति, आपकी बुद्धि या आपकी अद्वितीय क्षमा सीखलेते तो क्या ही अच्छा होता।" यहाँ तउ, तुज्झ और तुध्र सम्बन्ध एकवचन हैं।

(४५) अपादान और सम्बन्ध बहुवचन में 'युष्मद्' का 'तुम्हहं' आदेश हो जाता है। तुम्हहं होन्तउ आगदो। तुम्हहं केरउं धणु। तुम्हारे यहां से आया है। तुम्हारे वास्ते धन।

(४६) अधिकरण एकवचन मे 'युष्मद्' का 'तुम्हासु' आदेश हो जाता है। तुम्हासु ठिअं। तुममें स्थित।

(४७) 'अस्मद्' का कर्त्ता एकवचन में 'हउं' आदेश हो जाता है। तसु हउं कलिजुगि दुल्लह हो। नियम १० प० १ देखें।

(४८) कर्त्ता बहुवचन और कर्म बहुवचन मे 'अम्हे' और 'अम्हइं' आदेश होते हैं:—

> अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्बभणन्ति ।
> मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥१॥
> अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया के वि ।
> अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिँ जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि ॥२॥
> अम्हे देक्खइ । अम्हइ देक्खइ ॥३॥

'हम थोड़े और शत्रु बहुत है' इस प्रकार कायर ही कहते हैं। किन्तु ऐ सुन्दरी! आकाश को देखो कितने ऐसे है जो चन्द्रिका फैलाते हैं ॥१॥

कोई विरहिणी परदेश गये हुए पति के सम्बन्ध मे कहती है। वे पथिक भी जो अपनी प्रियतमाओ को घर छोड़ कर परदेश गये हुए हैं अवश्यही सुख की नीद न सोते होंगे जैसे हम नहीं सोती हैं ॥२॥

हम देखते हैं। हमको देखते हैं ॥३॥

(४९) अपभ्रंश मे 'अस्मद्' के करण एकवचन, अधिकरण एकवचन और कर्म एकवचन मे मइं आदेश होता है।

करण एकवचन:—

> मइँ जाणउँ पिअ विरहिअं कवि धर होइ विआलि ।
> णवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि ॥१॥

'हे प्रिय ! मैंने समझा था कि संध्या समय प्रिय-विरहितों के लिये कुछ सन्तोष मिल सकता है, किन्तु (इस समय तो) चन्द्रमा भी इतना तप्त हो जाता है जितना दिन में सूर्य्य ।'

अधिकरण एकवचन:—

पइँ मइँ बेहिं वि रणगयहिं (४२ प० ३ देखिये)

कर्म बहुवचन:—

मइँ मेल्लन्तहो तुज्झु (४२ प० ४ देखिये) ।

(५०) 'अस्मद्' का करण बहुवचन में 'अम्हेहिं', आदेश हो जाता है। तुम्हेहिं अम्हेहिं जंकिअउँ । तुमने और हमने जो किया । (६३ प० १ देखिये) ।

(५१) अपादान और सम्बन्ध एकवचन में 'महु' और 'मज्झु' रूप होते हैं।

महु होन्तउ गदो । मज्झु होन्तउ गदो । मुझसे गया ।
महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लिम झङ्खहि आलु ।
देन्त हो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥१॥
जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अबभग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥२॥

'मेरे प्रियतम मे दो दोष हैं। ऐ मेरे मित्र ! इस दोष को छिपाओ मत। जब वे दान देने लगते हैं तो सिर्फ मैं ही बच जाती हूं और वे जब युद्ध करने लगते हैं तो सिर्फ तलवार ही बच जाती है ॥१॥

यदि मेरे दुश्मन हार गये हैं तो वे मेरे प्रेमी से ही हार खाये होगे और यदि मेरे पक्ष के लोग हार गये हैं तो उनके मरने के बादही हारे होगे। यहाँ महु और मज्झु ॥२॥

(५२) अपभ्रंश मे 'अस्मद्' का करण बहुवचन और सम्बन्ध बहुवचन में 'अम्हहं' आदेश होता है।

अम्हहं होन्तउ आगदो।

अहभग्गा अम्हह तणा (५१ प० २)

(५३) अपभ्रंश मे अधिकरण बहुवचन का 'अम्हासु' आदेश होता है। अम्हासु ठिअं। हममे स्थित ॥

नोटः—४० वें नियम से लेकर ५३ तक 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के रूप बतलाये गये है। मै सज्ञा शब्दो की रूपावली भी दे चुका हूं। यहाँ 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों की रूपावली दे देता हूं।

युष्मद्।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तुहं	तुम्हे तुम्हइं
कर्म	पइं तइं	तुम्हे तुम्हइं
करण	पइं तइं	तुम्हेहि
अपादान	तउ, तुज्झ, तुध्र (तुहु)	तुम्हह
सम्बन्ध	तउ, तुज्झ तुध्र	तुम्हह
अधिकरण	पइं, तइं	तुम्हासु

अस्मद् ।

कर्त्ता—हउं	अम्हे, अम्हइं
कर्म—मइं	अम्हे, अम्हइं
करण—मइं	अम्हेहिं
अपादान—महु, मज्झु	अम्हहं
सम्बन्ध—महु; मज्झु	अम्हहं
अधिकरण—मइं	अम्हासु

(५४) 'ति, आदि में जो आद्यत्रय हैं उनमें से बहुवचन में 'हिं' आदेश विकल्प से होता है। जैसे:—

मुह-कवरिबंध तहें सोह धरहिं ।
नं मल्ल जुज्झु ससि राहु करहिं ॥
तहें सहहिं कुरल भमर उल तुलिअ ।
नं तिमिर डिम्भ-खेल्लन्ति मिलिअ ॥१॥

'उसके मुख और कवरी-बंध ऐसी शोभा से युक्त हैं जैसे चन्द्रमा और राहु परस्पर युद्ध कर रहे हों। उसके बाल भ्रमरों से युक्त होकर ऐसे शोभते हैं जैसे अन्धकार के बच्चे एकत्र होकर क्रीड़ा कर रहे हों। यहाँ 'धरहि' 'करहिं' 'सहहिं' इस नियम के उदाहरण हैं।

(५५) 'ति' आदि में जो मध्यत्रय हैं उनमें से आदि के स्थान में 'हि' आदेश विकल्प से होता है।

वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥

हे हताश ! पपीहे ! 'पिब पिव' करके क्यों रोता है ? तुम को जल की और मुझको प्रिय की आशा है। शायद यह कभी पूर्ण न होगी। यहाँ 'रुअहि' या 'रुअसि' दोनों ही हो सकते हैं।

वप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार ॥२॥

'रे निर्दय चातक ! बार बार यह कहने से क्या प्रयोजन है कि समुद्र के स्वच्छ जल से भरे रहने पर भी तुम्हें एक बूँद भी न मिलेगी। यहाँ 'लहहि' आत्मने पदी 'लभसे' के स्थान में आया है।

आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहँ चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु ॥

हे गौरी ! इस जन्म में तथा अन्य जन्म में भी मुझे वह पति दीजिये जो हँसते हुए अंकुशहीन मतवाले-हाथियों का भी सामना कर सके ॥ यहाँ 'दिज्जहि' 'दद्याः' के स्थान मे आया है।

(५६) 'ति' आदि के मध्यत्रय के बहुवचन में 'हु' आदेश विकल्प से होता है।

बलि-अब्भत्थणि महु-महणु लहुईहूआ सोइ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥१॥

बलि से याचना करते समय भगवान् मधुसूदन को भी छोटा होना पड़ा। अतएव यदि बडप्पन की इच्छा है, तो दान दो पर मांगो नहीं। यहाँ 'इच्छथ' के स्थान में 'इच्छहु', है, पर 'इच्छह' भी होता है।

(५७) 'ति' आदि के अन्त्यत्रय के एकवचन में 'उं' विकल्प से आदेश होता है।

बिहि विराडउ पीडन्तु गह म धरिए करहि विसाउ॥
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुडु अग्घइ ववसाउ ॥१॥

मेरा भाग्य प्रतिकूल होने दो। ग्रह मुझे पीड़ा दें। किन्तु हे प्रियतमे ! तू विषाद मतकर। यदि मैं काम की प्रतिष्ठा करूंगा तो अपने कपड़ो की नाई रुपये लाऊंगा। यहाँ 'कड्ढउ' कर्षामि के लिये आया है। विकल्प से 'कड्ढामि' रूप भी होता है।

(५८) 'ति' आदि में अन्त्यत्रय मे बहुवचन में वि० से हुं आदेश होता है।

खग्ग-विसाहिउ जहिँ लहहुँ पिय तहिँ देसहिँ जाहुँ।
रण-दुभिक्खें भग्गाइं बिणु जुज्झें न वलाहुँ ॥१॥

हमलोग उस देश में जायेंगे जहां पर अपनी तलवार के लिये कुछ काम मिले। युद्ध के दुर्भिक्ष से हमलोग पीड़ित हैं। हमलोग बिना युद्ध के प्रसन्न नहीं हो सकते हैं।

(५९) अपभ्रंश भाषा में अनुज्ञा मे संस्कृत के 'हि' और स्व के स्थान में इ, उ, और ह ये तीन आदेश होते हैं:—

कुंञ्जर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि।
कवल जि पाविय विहि-वसिए ते चरि माणु म मेल्लि ॥

'हे हाथी ! सल्लकी वृक्ष का स्मरण न कर। गहरी सांस न ले। भाग्य से प्राप्त हुए कवलों का ही भोजन कर। सम्मान

को न छोड़। यहाँ 'सुमरि' 'मेल्लि' और 'चरि' अनुज्ञा है।

'उ'

> भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु।
> घणपत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु॥

हे भ्रमर यहाँही इस निम्ब पर कुछ दिन बिलम्ब करो। जब तक घने पत्तो वाला और घनी छायावाला कदम्ब नहीं फूलता। यहाँ विलम्बु' अनुज्ञा है।

'ए'

> प्रिय एम्बहिँ करे सेल्लु करि छड्डहि तुहुँ करवालु।
> जं कावालिय बप्पुड़ा लेहिँ अभग्गु कवालु॥३॥

"हे प्रियतम। इसी प्रकार हाथ मे भाला लिये रहो। तलवार को छोड़ दो। जिसमे बेचारे कापालिको को अभग्न कपाल मिल सके।" यहाँ 'करे' अनुज्ञा है। सुमरहि इत्यादि भी रूप होते है :—

(६०) भविष्यत्काल में 'स्य' के बदले 'सो; विकल्प से होता है।

> दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिँ मनोरह पच्छि।
> जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि॥१॥

दिन शीघ्रता से भागे जाते हैं। मनोरथ पीछे पड़ते जाते हैं। जो कुछ पास में है उसी को स्वीकार करना पड़ता है। 'मेरे

पास इतना होगा' इस प्रकार सोचते हुए मत बैठे रहो ॥१॥
यहाँ होसइ के बदले 'होहि' भी होता है ।

(६१) 'क्रिये' के स्थान मे अपभ्रंश मे 'कीसु' हो जाता है ।

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुण्डियउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु ॥१॥

भोगो के प्राप्त होने पर भी जो उनका परित्याग कर देता है उस प्रेमी पुरुष की मैं बलैया लेता हूँ । जिसका शिर स्वयं चान्दुल है उसकी तो दैव से ही हजामत बनी हुई है । भावार्थ यह है कि जिसको भोग प्राप्त नहीं हो सके उसको तो लाचार हो कर संयमी बनना ही पड़ता है । पर सयम का महत्त्व तभी है जब वह भोगों के प्राप्त होने पर हो । यहाँ 'क्रिये' के स्थान पर 'कीसु' आया है । 'कीसु' के स्थान पर किज्जउं का भी प्रयोग होता है ।

(६२) अपभ्रंश मे भू धातु का पर्याप्त अर्थ में 'हुच' आदेश होता है ।

अइ तुंगत्तणु जं थणहं सो छेयउ न हु लाहु ।
सहि जइ केवँइ तुडि वसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥१॥

स्तनों की अत्यन्त उच्चता हानि ही है लाभ नहीं । हे सखि ! इसके कारण बहुत कठिनाई से और विलम्ब से स्वामी अधरों तक पहुचते हैं । 'प्रभवति के स्थान में पहुच्चइ' है ।

(६३) अपभ्रंश में 'ब्रु' धातु का 'ब्रुन' आदेश विकल्प से होता है ।

अ बद्द सुहासिउ किं पि । कुछ सुभाषित कहिये ।
कहीं कहीं पर 'बोप्पिणु' 'ओप्पि' इत्यादि रूप भी होते हैं।

इत्तउं ओप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ओप्पि ।
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गा ओप्पि ॥

दुर्योधन कह रहा है कि इतना कहकर शकुनि चुप हो गया। फिर दुःशासन बोल कर चुप हो गया। तब मुझको मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण बोलकर सामने खड़े थे। यहाँ 'अ' के विविध-रूपों के उदाहरण हैं।

(६४) अपभ्रंश में व्रज् धातु का वुञ् आदेश होता है।
वुञइ = व्रजति = जाता है। वुञेप्पि, वुञेप्पिणु = जाकर

(६५) 'दृश्' धातु का 'प्रस्स' हो जाता है:—
प्रस्सदि = पश्यति = देखता है ।

(६६) 'ग्रह्' धातु का 'गृण्ह' आदेश होना है।
'पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु'—व्रतलेकर पढ़ो।

(६७) अपभ्रंश में तक्ष् इत्यादि धातुओं के 'छोल्ल' इत्यादि आदेश होते हैं।

जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिजन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥१॥

यदि चन्द्रमा अपनी तेज किरणों से रहित होता और छोला जाता तो शायद वह संसार में उस सुन्दरी के मुखकमल

के सौंदर्य्य का किसी प्रकार सादृश्य पाता। यहाँ छोल्लिज्जन्तु 'छीला जाता' इत्यादि ग्रहण से देशी धातुओं के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

चुडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ ॥२॥

'हे सुन्दरी! तू अपने गालों को अपनी बाहों पर मत रख। नहीं तो तेरी चूड़ियाँ श्वासानल की ज्वाला से संतप्त और आँसू के जल से सिक्त होकर चूर चूर हो जायेंगी ॥२॥ यहाँ चुडुल्ल = कङ्कण, झलक्क = तापय (देशी शब्द)

अब्भडवंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥३॥

ज्यों ही मेरे प्रिय दो पद चलकर लौटे त्योंही चन्द्रमा की किरणें अस्त होने लगी। यहाँ 'अब्भड वंचिउ' देशी शब्द है। अर्थ है चलकर या अनुसरण कर।

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा-रत्ति-पयासुअहं विसमा संकडु एहु ॥४॥

वह सुन्दरी मेरे हृदय में चुभ रही है। आकाश में मेघ गरज रहें हैं। वर्षा की रात में प्रवासियों के लिये यह विषम संकट है ॥४॥ यहां खुडुक्कइ और घुडुक्कइ देशी क्रियायें हैं। उनका अर्थ चुभना और गरजना है।

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे संमुह थन्ति ।
महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति ॥५॥

हे माता! मेरे स्तन वज्रमय हैं क्योंकि वे नित्य मेरे कान्त के सामने रहते हैं। और समराङ्गण में गजघटा को तोड़ने के लिये उद्यत रहते हैं ॥५॥ यहां थन्ति—तिष्ठतः।

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवण मुएण।
जा वप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

उस पुत्र की उत्पत्ति से क्या फायदा जिसके बाप की भूमि दूसरे से आक्रान्त हो जाती है ॥६॥ यहां चम्पिज्जइ—चाँपली जाती है या आक्रान्त हो जाती है।

तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहें निवारण पलुवि नवि परधुट्ठुअइ असारु ॥७॥

समुद्र में इतना जल है; इसका इतना अधिक विस्तार है। पर इससे तो किसी की प्यास भी नहीं बुझती। यह व्यर्थ ही इतना गरजता है ॥७॥

(६८) अपभ्रंश में अनादि और असंयुक्त क-ख-त थ-प-फ के स्थान में क्रम से प्राय: ग, घ, द, ध, ब और भ हो जाते हैं।

क का ग

जं दिट्ठउँ सोम-ग्गहणु असइहिँ हसिउँ निसङ्कु।
पिय-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयङ्कु ॥१॥

जब असती स्त्रियों ने चन्द्र ग्रहण देखा तो वे निर्भय होकर हँसने और कहने लगीं ऐ राहु ! प्रिय मनुष्यों के हृदय में विक्षोभ करने वाले चन्द्रमा को निगल जा ॥१॥

ख का घ

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥२॥

हे माता ! स्वस्थावस्थामें ही आसानी से मान करने की सूझती है । व्याकुलता में प्रियतम को देखने पर अपने आप की सुधिही किसे रहती है ॥२॥

त, थ, प, और फ का द, ध, ब और भ ।

सबधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउँ जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु ॥३॥

मैं शपथ करके कहता हूं कि उसीका जन्म सफल है जिसका त्याग, वीरता और धर्म नष्ट नहीं हुए हैं । यहाँ रेखाङ्कित पदों से नियम का समर्थन होता है । यहाँ उपर्युक्त नियम मे अनादि क्यों कहा गया ? क्योंकि ऊपर के पद्य में 'करेप्पिणु' में 'क' का 'ग' नहीं हुआ । स्वर के बाद क्यों कहा गया ? क्योंकि 'मयङ्कु' मे 'क' का 'ग' नहीं हुआ । असंयुक्त क्यों कहा गया ? क्योंकि 'एकहिं' 'अक्खिहिं' मे 'क' का 'ग' नहीं हुआ । प्राय: कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं २ ऊपर का नियम नहीं लागू होता । जैसे:—

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइसीसु ॥४॥

यदि मैं किसी प्रकार अपने प्रियतम को पा जाती तो एक आश्चर्यजनक काम करती। जैसे नये वर्त्तन में पानी पैठ जाता है वैसे ही उनके सभी अंगो में पैठ जाती। यहां 'अकिआ, में क का 'ग' नहीं हुआ।

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चण-कन्ति-पयासु।
गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वण-वासु ॥५॥

देखो ! कर्णिकार खूब प्रफुल्लित हुआ है। उसकी कान्ति काञ्चन सी प्रकाशित हो रही है। मालूम होता है, सुन्दरियों के मुखों से पराजित होकर वह वनवास का सेवन कर रहा है ॥५॥ 'यहां पफुल्लिअउ' में 'फ' का 'भ' नहीं हुआ।

(६९) अपभ्रंश में अनादि और असंयुक्त मकार का विकल्प से अनुनासिक वकार भी होता है। जैसे कवँलु = कमलु भवँरु = भमरु, जिवँ = जिम, तिवँ = तिम, जेवँ = जेम, तेम = तेवँ। अनादि क्यों ? क्योंकि मयणु में म ही रहा। असंयुक्त क्यों ? क्योंकि जम्मु में 'म' ही रह गया।

(७०) अपभ्रंश में संयुक्त अक्षरों में नीचे के 'र' का विकल्प से लोप हो जाता है—जैसे पिउ या प्रियेण।

(७१) अपभ्रंश में कहीं र न रहने पर भी रेफ हो जाता है।

आसु महारिसि एउँ भणइ जइ सुर-सत्थु पमाणु ।
मायहँ चलण न वन्ताहं दिवि दिवि गङ्गा-ण्हाणु ॥१॥

महर्षि व्यास कहते हैं कि अगर वेद और शास्त्र प्रमाण माने जा सकते हैं तो जो लोग अपनी माताओं के चरणों की वन्दना करते हैं वे प्रतिदिन गंगा-स्नान करने का फल पा जाते हैं। यहाँ 'ब्रासु' में र कार आ गया है यद्यपि मूल शब्द 'व्यास' में र कार न था।

कहीं कहीं क्यों कहा गया? क्योंकि वासेण वि भारह-खम्भि बद्ध = व्यास से भारत स्तम्भ में बांधा गया। यहां 'व्यास' 'वास' रह गया, रेफ न हुआ।

(७२) आपद्, संपद्, और विपद् का द् अपभ्रंश में प्रायः 'इ' में परिणत हो जाता है।

अणउ करन्तहो पुरिस हो आवइ आवइ।
अनीति करते हुए पुरुषों के पास आपत्ति आती है।
विवइ—विपत्ति, संपइ = संपत्ति,

प्राय: का अभिप्राय यह है कि कभी 'इ' होता है कभी नहीं। जैसे "गुणहिं न संपय कित्ति पर" गुणों से संपत्ति नहीं पर कीर्ति मिलती है। यहाँ संपत्ति का संपइ न हो कर 'संपय' हो गया है।

(७३) 'कथं' 'यथा' और 'तथा' के स्थान में केम (कव) किम (किवँ) किह, किध, जेम (जेवँ) जिह, जिध, तेम (तेवँ) तिह तिध इत्यादि रूप अपभ्रंश में होते हैं।

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किंध रयणी छुडु होइ।
नव-वहु दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥१॥
ओ गोरी-मुह-निज्जिउ वद्दलि लुक्कु मियङ्कु।
अन्नु वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवँइ निसङ्कु ॥२॥
बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरिआणन्द।
निरुवम रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥३॥
भण सहि निहुअउँ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवँ नु जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥४॥
जिवँ जिवँ वङ्किम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खरपत्थरि तिक्खेइ ॥५॥
मइँ जाणिउ प्रिय विरहिअह कवि धर होइ विआलि।
नवर मिअङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खय-गालि ॥६॥

यह दुष्ट दिन किस प्रकार समाप्त होगा? रात्रि किस प्रकार शीघ्र ही आवेगी? नव-वधू के दर्शन की लालसा से व्याकुल पुरुष इसी प्रकार सोचता है ॥१॥

मैं समझता हूं कि चन्द्रमा उस गोरी के मुख से हार खा कर ही बादलों में छिपा हुआ है। इस प्रकार हार खा कर कोई निः शङ्क होकर कैसे घूम सकता है ॥२॥

हे आनन्द! उस सुन्दरी के बिम्बा के से अधरो पर दाँतों के चिन्ह किस प्रकार शोभायमान हैं? मालूम होता है उसके अनुपम रस का पान कर उसके प्रिय ने उस पर अपनी मुद्रा लगादी है ॥३॥

हे सखी ! मेरे प्रियतम यदि सदोष हों तो मुझ से कह। किन्तु मुझ से इस प्रकार कह जिसमें वे जान न सकें कि मेरा मन उन से प्रेम करता है ॥४॥

'जिवँ जिवँ' का अर्थ १६ नियम के १ ले पद्य मे देखिये।

महुँ जाणिउ प्रिय का अर्थ ४९ वें नियम के १ ले पद्य में देखिये ॥६॥

(७४) अपभ्रंश मे याद्दश्, ताद्दश्, कीद्दश् और ईद्दश् के बदले जेहु, तेहु, केहु, और एहु हो जाते हैं।

मइं भणिअउं बलिराय तुहुं केहउ मग्गण एहु।
जेहु तेहु न वि होइ वढ़ सइं नारायण एहु ॥१॥

शुक्राचार्य्य कहते हैं:—हे राजा बलि ! मैंने तो आप से पहलेही कह दिया था कि यह मगन किस प्रकार का है। वह कोई साधारण भिक्षुक नहीं बल्कि स्वयं नारायण हैं।

(७५) अपभ्रंश में अकारान्त याद्दश, ताद्दश' कीद्दश और ईद्दश, के बदले जइसो, तइसो, कइसो और अइसो हो जाते हैं।

(७६) यत्र का जेत्थु और जत्तु; तत्र का तेत्थु और तत्तु हो जाते हैं।

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वि तेत्थुवि एत्थु जगि भणतो तहि सारिक्खु ॥१॥

यदि प्रजापति कहीं से शिक्षा प्राप्त करके व्यक्तियों का निर्माण करता है तो इस संसार मे जहाँ तहाँ से उसके समान सुन्दरी ला दिखाओ।

(७७) अपभ्रंश मे कुत्र और अत्र के बदले केत्थु और एत्थु हो जाते हैं।

(७८) यावत के बदले जाम (जावँ) जाउँ और जामहिँ तथा तावत् के बदले ताम (तावँ) ताउ और तामहिँ हो जाते हैं।

जाम न निवडइ कुम्भयडि सीह-चवेड-चडक्क।
ताम समत्तहँ मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क॥१॥
तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलन्ति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति॥२॥
जामहिँ विसमी कज्जगइ जीवहँ मज्झे एइ।
तामहिँ अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अन्तरु देइ॥३॥

जबतक सिंह के चपेटे का थप्पड़ शिर पर नहीं लगता तबतक सभी मतवाले हाथियो के पद पद पर ढोल बजता है॥१॥

जबतक तेल निकला नहीं है तभी तक तिलो का तिलत्व है। किन्तु जब तेल निकल जाता है, वे ही तिल तिलत्व खोकर खली बन जाते हैं॥२॥

जब मनुष्यो पर विपत्ति के दिन आते है तब औरों की तो बात ही क्या सज्जन भी मुँह फेर लेते हैं॥३॥

(७९) यावत् के 'जेवड' और 'जेत्तुल' और तावत् के 'तेवड' और 'तेत्तुल' हो जाते हैं।

जेवडु अन्तरु रावण रामहँ तेवड अन्तरु पट्टण-गामहँ।
जेत्तलु और तेत्तलु रूप भी हो सकते हैं।

रावण और राम में जो अन्तर है वही पट्टन और ग्राम में है।

(८०) 'इदं' और किम् के बदले क्रम से 'एवड' और 'एत्तुलो' तथा 'केवड' और केत्तुलो हो जाते हैं।

(८१) परस्पर का अपभ्रंश में अवरोप्परु हो जाता है।

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्टा ताहं ।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गञ्जिउ जाहं ॥१॥

जो लोग आपस में युद्ध करते रहते हैं उनके परोसे हुए भोजन भी यदि उनका स्वामी बीमार हो तो नष्ट हो जाते हैं।

(८२) अपभ्रंश मे 'क' आदि व्यञ्जनों में स्थित ए और ओ के उच्चारण प्रायः लघु होते हैं। जैसेः—

सुधें चिन्तिज्जइ माणु (६८—पद्य २)

तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहु हो (१०—प० १)

(८३) अपभ्रंश में पदान्त में वर्त्तमान उं, हुं, हिं, और हं का उच्चारण प्रायः लघु जैसा होता है।

अन्नु जु तुच्छउँ तहें धणहे (८२—१)
बलि किज्जउं सुअणस्सु (१०—१)
इइउ घडावइ वणि वरुडुं (१२—१)
तरुहुँ वि वक्कलु (१३—२)
खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुँ (५८—१)
तणहँ तइज्जी भङ्गि न वि (११—१)

रेखाङ्कित पद उक्त नियम के उदाहरण हैं।

(८४) अपभ्रंश में म्ह के स्थान में म्भ विकल्प से होता है। यहाँ 'म्ह' से अभिप्राय उस 'म्ह' से है जो क्ष्म, श्म, ष्म, स्म और ह्म के स्थान पर होता है।

वम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वङ्ग छइल्ल।
जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥१॥

हे ब्रह्मन् वे मनुष्य दुर्लभ हैं जो सब बातों मे दक्ष हैं। जो चतुर हैं (बाँके हैं) वे ठग हैं जो सीधे हैं वे बैलही हैं।

(८५) अपभ्रंश मे 'अन्यादृश' शब्द के अन्नाइस और अवराइस ये दो रूप होते हैं।

(८६) अपभ्रंश मे 'प्रायः' शब्द के प्राउ, प्राइव, प्राइम्व और पग्गिम्व ये चार रूप होते हैं।

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु तं भुअ जुअलु।
अन्नु सु घणथणहारु तं अन्नुजी मुह-कमलु ॥

अन्नुजि केस कलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि ।
जेण णिअम्विणि घडिअ स गुण लायण्ण-णिहि ॥१॥
प्राइव मुणिहँ वि भन्तडी तें मणिअडा गणन्ति ।
अखइ निरामइ परम-पइ अज्ज वि लउ न लहन्ति ॥२॥
अंसु-जलें प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयण-सर ।
तें संमुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥३॥
एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥४॥

उसके विशाल नेत्र कुछ और ही हैं। उसकी भुजायें भी और ही हैं। उसके घने स्तन भी कुछ विचित्र ही हैं और उसका मुखपङ्कज तो असाधारण है ही। उसके केश-कलाप भी कुछ विचित्र हैं। गुण और लावण्य की निधि उस नितम्बिनी के बनानेवाले ब्रह्मा भी प्रायः कुछ और ही हैं ॥१॥

शायद मुनि लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। वे केवल माला की मणियाँ गिनते रहते हैं। वे अब तक भी अक्षय और निरामय परम पद में लय नहीं होते ॥२॥

हे सखी ! उस सुन्दरी की नयन-सरसी प्रायः अश्रु-जल से लबालब भरी रहती है। यही कारण है कि जब वह किसी की ओर चलाई जाती है तो वह तिर्छा आघात करती है ॥३॥

मेरे प्रियतम आयेंगे। मैं रोष करूंगी। रूष्ट होने पर

वे मुझे मनायेंगे। प्रायः इस प्रकार के मनोरथ मुझ से मेरे कठोर प्रियतम कराते रहते हैं ॥४॥

ऊपर के पद्यों में रेखाङ्कित पद इस नियम के उदाहरण हैं।

(८७) अपभ्रंश मे 'अन्यथा' शब्द के बदले में विकल्प से अनु होता है।

विरहानल-जाल-करालिउ पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअउ।
अनु सिसिर कालि सीअल-जलहु धूमु कहन्तिउ उट्ठिअउ ॥१॥

मालूम होता है कि विरहानल ज्वाला से दग्ध कोई पथिक जल में डूब कर स्थित है। नहीं तो इस शिशिर काल में शीतल-जल से वाष्प कैसे निकलता ॥१॥

जहाँ अनु नहीं होता वहाँ 'अन्नह' होता है।

(८८) अपभ्रंश में 'कुतः' शब्द के 'कउ' और 'कहन्तिहु' ये दो रूप होते हैं।

महु कन्तहो गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भन्ति ॥१॥

धूमु 'कहन्तिहु' उट्ठिअउ ॥ (८७—१)

मेरे प्रियतम के घर रहते हुए भी झोंपड़े जल क्यों रहे हैं? इस में कोई सन्देह नहीं कि या तो वे इस आग को शत्रु के खून से बुझायेंगे या अपने ॥१॥ रेखाङ्कित पद इस नियम के उदाहरण हैं।

(८९) अपभ्रंश में 'ततः' और 'तदा' के स्थान में 'तो' का व्यवहार होता है।

> जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
> अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥१॥

इस पद की व्याख्या नि० ५१ श्लोक २ में देखिये। रेखाङ्कित पद उदाहरण हैं।

(९०) अपभ्रंश मे एवं, परं, समं, ध्रुवं, मा, और मनाक् शब्दों के स्थान में क्रम से एम्व, पर, समाणु, ध्रुवु, मं और मणाउं आदेश होते हैं।

> पिय-संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
> मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१॥

प्रियतम के साथ में निद्रा कैसी ? प्रिय के परोक्ष में भी सोना कैसा ? मैं तो दोनों ही प्रकार से गई। न ऐसे नींद आयेगी और न वैसे ॥१॥

> गुणहिं न संपइ कित्ति पर (नियम ७—पद्य—१)

> कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु।
> सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥२॥

मेरे प्रियतम की उपमा सिंह से देने से मेरा अपमान होता है। सिंह तो बिना रक्षकों के ही हाथियों को मारता है किन्तु मेरे प्रियतम रक्षकों समेत हाथी मारते हैं ॥२॥

चंचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जिअ काइं ।
होसहिं दिअहा रूसणा दिव्वइँ वरिस सयाइँ ।।३।।

जीवन चचल है। मरना ध्रुव है। हे प्रिय! तो रूठा क्यों जाय? रूठने के दिन तो एक एक सौ २ दिव्य बरसों के बराबर होगे ।।३।।

मं धणि करउ विसाउ (५७—१)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जण-कर-पल्लवेहि दसिज्जन्तु भमिज्ज ।।४।।
लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेह म गज्जु ।
वालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ।।५।।

मान नष्ट होने पर यदि शरीर न छूटे तो देश छोड़ दो। दुर्जनों की उँगलियो से दिखाये जाते हुए इतस्तत न घूमो ।।४।।

नमक (सौदर्य) जल से घुल जाता है। अरे दुष्ट मेघ गरज मत। मेरी जली कुटिया चूती होगी और मेरी सुन्दरी प्रियतमा भींगती होगी ।।५।।

विहवि पणट्ठइ वङ्कुडउ रिद्धिहि जण-सामन्नु ।
किं पि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ।।६।।

केवल चन्द्रमा ही मेरे प्रियतम के समान हैं और कोई नहीं। क्योकि वह विपत्ति में टेढ़े और सपत्ति में साधारण रहते हैं। रेखाङ्कित पद नियमो के उदाहरण हैं।

(९१) अपभ्रंश मे किल अथवा, दिवा, सह, और नहिं के स्थान में क्रम से प्राय: किर, अहवइ, दिवे, सहुँ और नाहिं शब्द होते हैं।

किल का किर

किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ।
इह किवणुण जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ॥१॥

कृपण न तो खाता है, न पीता है और न धर्म में रुपये का खर्च करता है। जैसे उसे यह मालूम ही नहीं कि यमराज के दूत क्षणभर मे ही उस पर अधिकार कर लेंगे॥१॥

'अथवा' का 'अहवइ' तथा 'अहवा'

अहवइ न सुवंसहं एह खोडि।
अथवा सुवशियो मे यह दोष नहीं है।
जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा त जि निवाणु॥२॥

मै उस देश मे जाऊगी जहाँ मेरे प्रियतम का पता मिलेगा यदि वे आवेंगे तो लाऊगी नहीं तो वहीं प्राण-विसर्जन कर दूंगी॥१॥

दिव का दिवि।

दिवि दिवि गङ्गा ण्हाणु॥ (७१—१)

सह का सहु।

जइ पवसन्ते सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु ।
लज्जिज्जइ सदेसड़ा दिन्तेहिँ सुहय-जणस्सु ।।३।।

नतो मै प्रियतम के साथ विदेश गई और न उसके वियोग मे मरी। अत: उनके पास संदेश भेजने मे तो मुझे बडी लज्जा लगती है।

नहि का नाहिँ ।

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिंओहट्टइ ।।४।।

एक ओर तो मेघ जल पी रहे हैं और दूसरी ओर बडवानल जल रहा है। किन्तु समुद्र की गम्भीरता तो देखिये, कि एक बूँद भी उसके जल मे कमी नही होती ।।४।।

(९२) पश्चात्, एवमेव, एव, इदानीं, प्रत्युत और इतः के बदले अपभ्र श मे क्रम से पच्छइ, एम्वइ, जि, एम्वहिं, पच्चलिउ, और एत्तहे हो जाते हैं।

पच्छइ होइ विहाणु (३४—१)

एम्वइ सुरउ समत्तु (४—२)

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्वरइँ करेइ ।।१।।

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वहिं राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ ।।२।।

साव-सलोणी गोरडी नवखी कवि विस-गण्ठि ।
भडु पच्चलिओ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥३॥

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु (९१—४)

जायँ, जाने से मत रोको, देखती हूँ कितने डेग डालते हैं। उनके हृदय मे तो तिरछी होकर मैं ही अड़ी हूँ वे जाने का आडम्बर मात्र करते हैं ॥१॥

हरि आङ्गन में नचाये गये। लोग आश्चर्य्य में पड़ गये। इस समय राधा के पयोधरों की चाहे जो दशा हो ॥२॥

वह बाला सभी अंगो मे इतनी सुन्दरी है कि जैसी विष-ग्रन्थि। किन्तु तौभी यदि वह नवयुवक उसका आलिङ्गन न प्राप्त करेगा तो मर जायेगा ॥३॥

(९३) अपभ्रंश में विषण्ण, उक्त और वर्त्मन के स्थान में वुन्न, वुत्त और विच्च होते हैं।

मइँ वुत्तउं तुहुँ धुरु धरहि कसरेहिँ विगुत्ताइं ।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥१॥

जें मणु विच्चि न माइ । (२२—१)

हे धवलै ! मैं कहता हूं कि तुम जुआ धारण करो। हमलोग बदमाश बैलो से चिढ़ाये गये हैं। तुम्हारे बिना और कोई इस भार को नहीं धारण कर सकता। इस समय तुम विषण्ण (खेदयुक्त) क्यों हो ?

(९४) अपभ्रंश भाषा में, १ 'शीघ्र' का 'वहिल्ल', २ 'झकट' का 'घङ्घल', ३ 'अस्पृश्य-संसर्ग' का विट्टाल', ४ भय का 'द्रवक्क', ५ आत्मीय का 'अप्पण', ६ 'दृष्टि' का 'द्रेहि', ७ 'गाढ' का 'निचट्ट', ८ 'साधारण' का 'सड्ढल', ९ 'कौतुक' का 'कोड्ड', १० 'क्रीड़ा' का 'खेड्ड', ११ 'रम्य' का 'रवण्ण', १२ 'अद्भुत' का 'ढक्करि', १३ 'हे सखी' का 'हल्लि'. १४ पृथक् पृथक् का 'जुअंजुअ:', १५ 'मूढ' का 'नालिअ' और 'वढ', १६ 'नव' का 'नवख', १७ 'अवस्कन्द' का 'दडवड', १८ यदि का 'छुडु', १९ 'सम्बन्धी' का 'केर' और 'तण', २० 'मा भैषी:' का 'मब्भीसे' और २१ 'यद्दृष्टं तत्' का 'जाइट्ठिआ' हो जाता है।

शीघ्र का वहिल्ल—

एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउ पइँ जेहउ खलु नाहिं ॥१॥

कभी तो तुम आते ही नहीं और कभी आकर शीघ्र चले जाते हो। ऐ मित्र ! मैं समझता हूं तुम्हारे जैसा दुष्ट कोई है ही नहीं।

झकट = घङ्घल।

जिवँ सुपुरिस तिवँ घङ्घलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइँ हिआ विसूरइ काइं ॥२॥

जिस प्रकार इस संसार में बहुत से सत्पुरुष हैं, वैसे ही बहुत से झगड़े भी हैं। जितनीही नदियाँ हैं उतने ही घुमाव भी

हैं। जितनी ही पहाड़ियाँ हैं उतनी ही कन्दरायें हैं। ऐ हृदय! तू विषाद क्यों कर रहा है?

अस्पृश्यसंसर्ग = विट्टाल।

जे छड्डे विणु रयणनिहि अप्पउ तडि घल्लन्ति।
तहं सङ्खहं विट्टालु परु फुक्किजन्ति भमन्ति॥३॥

जो रत्नाकर को छोड़ कर अपने को तट पर फेंक डालते हैं और दूसरे से फूँके जाते हुए फिरते हैं उनके संसर्ग की चिन्ता से ही मुझे घृणा होती है।

भय = द्रवक

दिवेहिँ विढत्तउँ खाहिवद संचिम एक्कु विद्रम्मु।
कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु॥४॥

अरे मूर्ख! जो प्रति दिन कमाता है उसे खाये जा। एक पैसा भी जमा न कर। किसी अज्ञात स्थान से भय आ सकता है जिससे जीवन का अंत हो जाय।

दृष्ट = द्रेहि

एक्कमेक्कउँ जइ वि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण
तोवि द्रेहि जहिं कहिं वि राही।
को सक्कइ संवरेवि दड्ढ-नयणा नेहि पलुट्टा॥५॥

यद्यपि हरि प्रत्येक का सम्मान करते हैं। तथापि राधा

के पास ही उनकी दृष्टि लगी रहती है। स्नेह से परिपूर्ण नेत्रों को कौन रोक सकता है ?

गाढ़ का निघट

विहवे कस्स थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु।
सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निचट्टु ॥

ऐश्वर्य्य होने पर स्थिरता किसमें रहती है ? यौवन का अभिमान किसे हो सकता है ? वही लेख (पत्र) भेजा जाना चाहिये जो गम्भीरता से लगे (प्रभाव उत्पन्न करे)।

साधारण का सड्ढल

कहिँ ससहरु कहिँ मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु।
दूर-ठिआहँ वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥

कहाँ चन्द्रमा और कहाँ समुद्र ? कहाँ मोर और कहाँ मेघ? दूरस्थित होने पर भी सज्जनों में असाधारण स्नेह होता है।

कौतुक का कोड्ड या कुड्ड

कुञ्जरु अन्नहँ तरुअरहँ कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिँ सल्लइहिँ जइ पुच्छह परमत्थु ॥

केवल उत्सुकता वश हाथी दूसरे वृक्षों पर भी अपनी सूँड फेरता है किन्तु सच पूछिये तो उसका मन आसक्त रहता है केवल एक सल्लकी वृक्ष में ही।

क्रीडा का खेड्ड

खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छयं किं पयम्पह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥

हमलोगो ने केवल क्रीड़ा की है। अब अपना निश्चय क्या है सो कहिये। हे स्वामी ! अपने अनुरक्त भक्त हमसबो को न छोडिये ॥

रम्य का रवण्ण

सरिहिँ न सरेहिँ न सरवरेहिँ न वि उज्जाण वणेहिँ ।
देस रवण्णा होन्ति वढ़ निवसन्तेहिँ सुअणेहिँ ॥

अरे मूर्ख ! कोई देश नदियो, तालाबो, अथवा उद्यान-बनों से सुन्दर नही होता। वह तो सुन्दर होता है केवल सज्जनो के निवास से।

अद्भुत् का ढक्करि।

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय-वार।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥

अरे बदमाश और अद्भुत् सार (बनावट) वाला हृदय ! तूने मेरे सामने सैकड़ों वार कहा था कि यदि (अथवा जब) मेरे प्रियतम प्रवास में जायेंगे तो मैं फट जाऊंगा।

हेसखि का हेल्लि।

हेल्लिम भञ्जहि आलु (५१ नियम देखें)

पृथक् पृथक् का जुअंजुअः।

एक कुडुल्ली पञ्चहिँ रूद्धी तहँ पञ्चहँ वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुए तं घरु कहि किव नन्दउ जेत्थु कुडुम्बउँ अप्पण छन्दउँ ॥

एक कुटी पर पाँच (इन्द्रियो) का अधिकार है। ये पाचों (पाँच ढ़ग से) पृथक् पृथक् सोचते हैं। हे बहिन ! वह घर कैसे सुखी हो सकता है जहाँ सारा कुटुम्ब ही अपनी २ रूचि के कनुकूल चलता है ?

मूढ का नालिअ और वढ।

जो पुणु मणि जि खसफसि हूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ।
रइ-वस-भमिरु करग्गुल्लालिउ घरहिंजि कोन्तु गुणइ सो नालिउ।

जो मनमे चिन्ता कर के भी न तो एक दाम या न एक रुपया देता है, वह मूर्ख है। फिर वह भी मूर्ख ही है जो इच्छानुकूल भ्रमण करता है और घर पर ही हाथ मे बर्छा ले कर भाँजता रहता है।

मूढ = वढ। नियम ९४ का ४था पद्य मे देखिये।

नव का नवख।

नवखी कवि विसगण्ठि। (९२ का ३ रा पद्य)

अवस्कन्द का दडवड।

चलेहिँ चलन्तेहिँ लोअणेहिँ जे तइँ दिट्ठा बालि।
तहिँ मयरद्धय-दडवडउ पडइ अपूरइ कालि॥

हे बाले! तेरे चंचल और बल खाते हुए लोचनों से जो देख लिये जाते हैं उनके ऊपर काम देव का आक्रमण पूर्णावस्था (युवावस्था) के पूर्व ही हो जाता है।

यदि का छुडु के लिये नियम ५७ का पहला पद्य देखिये (छुडु अग्घइ ववसाओ)

सबन्धी का 'केर' और 'तण'।

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तएँ हरिणाइं।
जसु केरए हुंकारडए मुहहु पडन्ति तृणाइं॥

हे हरिणो! निश्चिन्त हो कर जल पिओ क्योंकि वह केसरी चला गया जिसके हुँकार से तुम्हारे मुख से तृण गिर पड़ पड़ते थे।

अहभग्गा अम्हह तणा (५१ का २ रा पद्य देखें)।

'भा भैषी.' का 'मब्भीस' (स्त्रीलिङ्ग में)।

सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ।
आदन्नहँ मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ॥

स्वस्थ लोगों के साथ तो सभी वार्तालाप कर लेते हैं। किन्तु आर्तों को 'भयन करें' ऐसा सज्जन ही कहते हैं।

'यद्यद् दृष्टं तद्तद्' का जाइट्ठिआ ।

जइ रच्चसि 'जाइट्ठिअए' हिअडा मुद्ध-सहाव ।
लोहें कुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ।

हे मूर्ख हृदय ! यदि तुम जो कुछ देखोगे उन सबो में आसक्त होते जाओगे तो तुम्हे कूटे जाते हुए लोहे के समान ताप सहना पड़ेगा ।

(९५) हुहुरु और घुग्घ आदि देशी शब्द है जो अनुकरण-वाची हैं। इनमे हुहुरु आदि शब्दो का तथा घुग्घ आदि चेष्टाओं का अनुकरण करते हैं ।

मइँ जानिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्मद्रहि हुहुरुत्ति ।
नवरि अचिन्तिय सपडिय विप्पय नाव झडत्ति ॥१॥

आदि ग्रहण करने से—

खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठें नयणेहिं ॥१॥

मैंने यह समझा था कि हुहुरु शब्द कर के मै प्रेमहृद मे डूब जाऊंगा किन्तु अचानक विरहरूपी नौका मेरे पास आ पहुंची ॥१॥

जब प्रेमी आखो से देखा जाता है तो न तो वह कसर २ शब्द करके खाया जाता है और न घुट २ करके पिया जाता है तौभी उसके देखने से अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है ॥२॥

अज्जवि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेंहि मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥३॥

आदि ग्रहणकरने से—

सिरि जर खण्डी लोअडी गलि मणियडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥४॥

इत्यादि—

अभीतक मेरे प्रियतम मेरे ही घर में सिद्धार्थों की वन्दना कर रहे हैं किन्तु इतने ही में विरह गवाक्षों से बन्दरघुड़की देने लगा है ॥३॥

उस सुन्दरी के माथे पर एक फटी कम्बली और गले में बीस काँच की गुडियों के अतिरिक्त कुछ नहीं था। किन्तु इतनेही से उसने सारी गोष्ठी के सभ्यों से उट्ट-बईस करा दिया ॥४॥

(९६) अपभ्रंश में 'घइं' इत्यादि शब्दों का बिना किसी अर्थ के ही प्रयोग होते हैं ।

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥

हे अम्ब ! मुझे इस बात का बड़ा पश्चात्ताप है कि कल संध्या को मैंने अपने प्रियतम को क्रुद्ध कर दिया । (सचमुच) विनाश काल में वुद्धि ही विपरीत हो जाती है ।

नोट:—आगे के तेरह नियमो में केवल अपभ्रंश की ही विभक्तियों का विवरण दिया जायेगा।

(९७) अपभ्रंश में तादर्थ्य बतलाने के लिये केहिं, तेहिं, रेसि, रेसिं और तणेण ये पांच अव्यय प्रयुक्त होते हैं।

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहि देसि।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ तुहुँ पुणु अन्नहिं रेसि ॥१

नोट—इसी तरह तेहिं इत्यादि का भी उदाहरण दिया जा सकता है। 'तण' के लिये ३८ नियम देखें।

हे प्रिय! कहिये तो यह परिहास केस देश मे होता है? मैं तो तुम्हारे विरह में क्षीण हो रही हूं किन्तु तुम दूसरी के लिये क्षीण हो रहे हो ॥१॥

(९८) पुनः और बिना के परे स्वार्थ मे डुः (उ) प्रत्यय होता है।

सुमरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ।
जहिँ पुणु सुमरणु जाउँ गउ तहो नेहहो कइँ नाउँ ॥

यदि कुछ ही समय तक हम किसी को भूल कर फिर स्मरण करें तो उसे प्रिय कह सकते हैं किन्तु उसे कौनसा प्रेम कहें जिसका स्मरण क्षण २ मे आता जाता रहता है।

'विणु' के लिये—नियम ५८ का १ ला पद्य देखें।

(९९) अपभ्रंश मे 'अवश्य' के परे डें (एं) और ड (अ) विभक्तियां लगती हैं।

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइँ अन्नइँ ।
मूलि विणट्ठइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिं पण्णइँ ॥१॥

सभी इन्द्रियों की नायक जीभ को वश कीजिये क्योंकि इसीकी अधीनता में और सब इन्द्रियाँ रहती हैं। तुम्बी का मूल नष्ट हो जाने पर पत्ते भी अवश्य नष्ट हो जायँगे।

'अवस न सुअहिं सुअच्छिअहिं' में 'अवस' (नियम ४८ पद्य २ देखें)

(१००) अपभ्रंश मे 'एकश' शब्द के परे स्वार्थ मे डि (इ) प्रत्यय लगता है।

एक्कसि सील कलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥

जिसका चरित्र केवल एकवार कलङ्कित होता है उसके लिये प्रायश्चित्त है। किन्तु जो प्रति दिन अपना चरित्र दूषित करता है उसके लिये कौनसा प्रायश्चित्त है?

(१०१) अपभ्रंश में संज्ञाओं के परे स्वार्थ मे अ-डड-डुल्ल ये तीन प्रत्यय होते हैं। इन सबों के संयोग मे स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

विरहाणल-जाल-करालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिँ पन्थिअहि सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥

विरहानल की ज्वाला से दग्ध जो पथिक मार्ग मे दिखाई पड़ा उसको सभी पथिकों ने मिलकर अग्निस्थ कर दिया अर्थात् जला दिया।

डड के लिये महु कन्तहु बे दोसडा (५१—१) देखें।
डुल्ल के लिये एक कुडुल्ली पञ्चहिं रूद्धी (९४—१२) देखें

(१०२) इन सब (अ, डड, डुल्ल) प्रत्ययों में से दो या तीन के योग भी स्वार्थ मे लगते हैं।

डडअ—फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं (२२—२)
डुल्लअ—चूडुल्लउ चुन्नी होइसइ (६७—२)

डुल्लडड—

सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहि वासु।
पेक्खिवि बाहु बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१॥

वह सुन्दरी अपने सीमान्त में रहने वाले सलज्ज प्रियतम के प्रसाद, और बाहुबल को देख कर गहरी साँस लेती है।

(१०३) अपभ्रंश में स्त्री लिङ्ग संज्ञाओं में पहले दो सूत्रों में कहे हुए प्रत्ययों के अन्त मे डी (ई) प्रत्यय होता है।

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेहिं कञ्चुआ तितुव्वाण करन्त ॥

कोई एक पथिक किसी दूसरे पथिक से अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध में पूछ रहा है। हे बटोही! क्या तूने मेरी सुन्दरी

प्रियतमा को देखा ? दूसरा, हाँ, देखा। वह अपने आँसुओ से अपनी चोली को गीली और उच्छ्‌वासों से शुष्क करती हुई तुम्हारी बाट जोह रही थी।

(१०४) अपभ्रंश मे स्त्रीलिङ्ग सज्ञाओ मे अकारान्त प्रत्ययो के अन्त मे 'डा' प्रत्यय होता है। यह 'डी' प्रत्यय का अपवाद है।

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआ विन दिट्ठ॥

प्रिय आये, वार्त्ता सुनी; कान में ध्वनि पैठी। उस नष्ट होते हुए विरह की धूल भी (अब) नहीं दिखाई पड़ती।

(१०५) अपभ्रंश मे स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं के अकार का प्रत्यय लगने पर इ कार हो जाता है।

धूलडिआ वि न दिट्ठ (१०४) किन्तु पुँल्लिङ्ग में यह बात नहीं होती। झुणि कन्नडइ पइट्ठ (१०४—१)

(१०६) अपभ्रंश मे 'तू' इत्यादि के परे 'ईय' प्रत्यय के परे 'डार' (आर) आदेश होता है। जैसे तुम्ह से 'तुम्हार'

सन्देसें काइँ तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ।
सुइणन्तरि पिएँ पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ॥

यदि आपका संग नहीं होता तो संदेश से क्या लाभ ? हे प्रिय ! स्वप्न में पीए हुए जल से क्या प्यास क्षीण हो सकती है ?

दिक्खिअ अम्हारा कन्तु (१७—१) बहिणि महारा कन्तु (२३—१)

(१०७) अपभ्रंश में 'अत्' (पंचमी एक व०) का डेत्तुल (एत्तुल) आदेश होता है। यह आदेश केवल इदं, कियत, तद्, और एतद् शब्दों के परे होता है। एत्तुलो, केत्तुलो, जेत्तुलो तेत्तुलो इत्यादि

(१०८) अपभ्रंश में सर्व आदि की सप्तमी में त्र प्रत्यय का डेत्तहे (एत्तहे) आदेश हो जाता है।

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअ-पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिँ वि न ठाइ॥

चचल लक्ष्मी यहाँ वहाँ द्वार अथवा घर पर दौड़ती फिरती है। प्रियतम से बिछुड़ी हुई स्त्री के समान कहीं भी निश्चल होकर नहीं ठहरती।

(१०९) त्व और तल का प्पण हो जाता है।

वड्डप्पणु परि पाविअइ (३८—१)

(११०) अपभ्रंश में तव्य प्रत्यय के स्थान में इएव्वउं, एव्वउ, और एवा ये तीन आदेश होते हैं।

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउँ किं पि णवि मरिएव्वउँ पर देज्जइ॥१॥

देसुच्चाडणु सिहि कढणु घण-कुट्टणु जं लोइ ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ ॥२॥
सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहिँ समाणु ।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥३॥

कोई सिद्ध पुरुष द्रव्य देकर विद्यासिद्धि के लिये किसी स्त्री से उसका पति माँग रहा है। वह उत्तर देती है:—यदि इस धन को ग्रहण कर मैं अपने प्रियतम को छोड़ दू तो मेरा मरने के सिवा और कुछ भी कर्त्तव्य न रह जायेगा ॥१॥

अतिरक्त (लाल) मजीठ के पौधे को देशोच्चाटन, आगपर औटा जाना और हथौड़े से पीटा जाना यह सब सहना पड़ता है। भावार्थ यह है कि जो अत्यन्त प्रेम करते हैं उन्हें कड़ी से कड़ी यातना भोगनी पड़ती है ॥२॥

तीसरा पद्य अश्लील है अतः अर्थ नहीं लिखा जाता।

(१११) क्त्वा के स्थान मे इ, इउ, इवि, अवि, ये चार आदेश होते हैं।

इ—

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहु ।
अम्हाहिं बे हत्थड़ा जइ पुणु मारि मराहु ॥१॥

हे हृदय ! यदि घने वैरी हैं तो क्या हम आकाश पर चढ़ जायँ ? हमें भी दो हाथ हैं, मार कर तो मरेंगे।

इउ—

गय—घड भज्जिउ जन्ति (६७—५)

इवि—

रक्खइ सा विस हारिणी बकर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिअ-मुञ्जालु जलु जेहिँ अडोहिउ पीउ ॥२॥

वह जल ढोनेवाली (पनिहारी) अपने उन दोनों हाथों को चूम कर जीवन-रक्षा करती है जिनके द्वारा उसने जल मे डूबे ही बिना मुञ्ज के प्रतिविम्बवाले जल को पिया है।

अवि—

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउं तेवइ का दोसु।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुञ्ज सरोसु ॥३॥

हे मुञ्ज ! तुम हमारी बाहे छुड़ाकर जा सकते हो। खैर ऐसा हो। इसमे हानि ही क्या है ? मै मुञ्ज को क्रुद्ध तभी समझूगी जब ये मेरे हृदय से भी निकल जायँ।

नोटः—ऊपर के दो पद्यो मे मुञ्ज का उल्लेख है। कुछ लोगों का कहना है कि ये मालवा के प्रसिद्ध राजा मुञ्ज हैं। कुछ लोग इन्हे एक चालुक्य-नरेश का मन्त्री मुज मानते हैं। किसी भी अवस्था में, अपभ्रंश भाषा में हिन्दी के पूर्व मुञ्ज पर पद्य लिखे जाने से यह प्रकट होता है कि उनके समय मे अपभ्रंश जनता की भाषा (बोली) थी।

(११२) अपभ्रंश मे क्त्व प्रत्यय के फिर चार और आदेश होते हैं। ये हैं एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु।

जेप्पि असेस कसाय-बलु देप्पिणु, अभउ जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहिँ झाएविणु तत्तस्सु॥

मनोविकारों की सेना को जीत कर संसार को अभयदान दे कर, महाव्रत ग्रहण कर, तत्त्वों का ध्यान कर योगीजन शिव को प्राप्त करते हैं।

(११३) अपभ्रंश में तुम् प्रत्यय के स्थान में उपर्युक्त एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु के अतिरिक्त एव, अण, अणहं, और अणहिं ये चार आदेश और होते हैं।

देवं दुक्करु निअय-धणु करण नतउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहँ मणु पर भुञ्जणहिं न जाइ॥१॥
जेप्पि चएप्पिणु सयलधर लेविणु तवु पालेवि!
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि॥२॥

धन दान करना दुष्कर है। तपस्या करना किसी को सूझता ही नहीं। इस प्रकार मन सुख भोगना चाहता है किन्तु भोग नहीं सकता॥१॥

तीर्थंकर शान्ति के विना इस संसार में समूची पृथ्वी को जीतने में फिर उसको त्याग करने में, व्रत लेने में और उसका पालन करने में कौन समर्थ है?॥२॥

(११४) अपभ्रंश मे गम धातु के परे एप्पि और एप्पिणु आदेशों के 'ए' का विकल्प से लोप होता है।

गम्प्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिँ गम्पि।
मुआ परावहिँ परम-पउ दिव्वन्तरइँ म जम्पि ॥१॥

पक्ष में—

गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिव-तित्थ गमेप्पि।
कीलदि तिदसावास-गउ सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥२॥

मनुष्य वाराणसी और उज्जयिनी जा कर मरने के बाद परमपद प्राप्त करते हैं अतः दूसरे तीर्थ का नाम न लीजिये ॥१॥

जो गङ्गा जाते हैं अथवा शिवतीर्थ (काशी) जाते हैं वे यमलोक जीत कर देवलोक में क्रीड़ा करते हैं ॥२॥

(११५) अपभ्रंश में 'तृन' प्रत्ययका 'अणअ' आदेश होता है।

हत्थि मारणउ, लोउ बोल्लणउ पडहु वज्जणउ सुणउ भसणउ ॥

हाथी मारनेवाला, लोग बोलनेवाले, पटहबजनेवाला, और कुत्ता भूँकनेवाला होता है।

(११६) अपभ्रंश मे इव के अर्थ मे 'नं', नउ, नाइ, नावइ, जणि और 'जणु' ये छ शब्द व्यवहृत होते है।

नं—नं मल्लजुज्झु ससिराहु करहिं ॥ (५४—१)

नउ ।

रवि-अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१॥

नावइ ।

पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहर-नयण सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छरभरिउ जलणिपवीसइ लोणु ॥२॥

जणि ।

चम्पय-कुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ बइट्ठउ ॥३॥

जणु ।

निरुवम-रसु पिएं पिएवि-जणु । (७३—२)

नाइ ।

वलयावलि-निवडण भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह-विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥४॥

सूर्यास्त के समय चकवा अपनी प्रियतमा के विरह के भयान से अपने मुख मे रक्खे हुए मृणालखण्ड को नहीं खाता मानो यह उसके प्राण की रक्षा करने के लिये अर्गला लगाई गयी हो ॥१॥

जिनवर की विशाल आंखों वाले लावण्य युक्त मुख को देखकर मत्सर को बहुत द्वेष हो गया है अत: वह अग्नि में प्रवेश कर रहा है ॥२॥

हे सखी ! चम्पक के फूल में भ्रमर पैठा है। ऐसा मालूम होता है जैसे इन्द्रनीलमणि सोने में जड़ी हुई है ॥३॥

अपनी वलयावली के गिरने के भय से वह सुन्दरी विरहिणी भुजा ऊपर उठाये चल रही है मानो वह विरह रूपी महाहृद की थाह ले रही है ॥४॥

(११७) अपभ्रंश में लिङ्ग प्रायः अतन्त्र (व्यभिचारि या अनिश्चित) होता है।

गय कुम्भइं दारन्तु (१७—१) यहां 'कुम्भ' पुंलिङ्ग का नपुंसक में व्यवहार हुआ है।

अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु सो किं धणहें धणाइ ॥१॥

जब पर्वत के शिखरों पर मेघ दिखाई देने लगते हैं तो पथिक यह कह कर रोने लगता है कि जो मेघ इन पर्वतों को निगल जाना चाहते हैं वे हमारी प्रियतमा के प्राण कैसे छोड़ेंगे ? ॥१॥ यहाँ अब्भा (अभ्र) नपुं० का पु० में प्रयोग हुआ है।

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तस्सु ॥२॥

मैं अपने उस कान्त की बलैया लेती हूं जिन्होंने आंतों के पांव में लगने पर तथा स्कन्ध से शिर कट जाने पर भी कटारी

से हाथ नहीं हटाया है ॥२॥ यहाँ अम्त्र (न० लिं०) का स्त्रीलिङ्ग मे प्रयोग हुआ है।

सिरि चडिआ खन्ति प्फलइँ पुणु डालइँ मोडन्ति।
तोवि महद्दुम सउणाह अवराहिउ न करन्ति ॥३॥

चिडियाँ वृक्षों के शिर पर चढ़ कर फल खाती हैं और डालों को मोड़ या तोड़ डालती है तथापि वृक्ष उनको अपराधी नहीं गिनते या उनका कुछ नहीं बिगाड़ते ॥३॥ यहाँ स्त्री लिङ्ग डाल का न० लि० मे प्रयोग है।

(११८) अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी के समान कार्य्य होते हैं।

सीसि सेहरु खणु विणिम्मविदु
खणु कण्ठि पालवु किदु रदिए।
विहिदु खणु मुण्डमालिए ज पणयेण
त नमहु कुसुम-दाम-कोदण्ड कामहो ॥१॥

मैं काम के उस कुसुमदाममय धनुष को नमस्कार करता हूँ जिसे वे कभी तो अपने शिर का शेखर, कभी रति के गले मे लटकने-वाला और कभी अपने शिर की माला बना लेते हैं ॥१॥

(११९) प्राकृत आदि भाषाओं के लक्षणो का व्यत्यय भी अपभ्रंश मे मिलता है।

अपभ्रंश में रेफ या तो नीचे चला आता है या लुप्त हो जाता है। वैसाही मागधी में भी होता है। केवल भाषा

लक्षण का ही नहीं 'ति' आदि प्रत्ययों का भी व्यत्यय होता है। जो प्रत्यय वर्त्तमान काल मे प्रसिद्ध हैं वे भूतकाल में भी होते हैं। जैसे अह पेच्छइ रहुतणओ। यहाँ पेच्छइ का अर्थ देखा या देखता था होगा। आभासइ रयणीअरे। भूत के प्रत्यय वर्त्तमान में भी होते है। सोहीअ एस। यह सुनेगा इत्यादि।

(१२०) जो कुछ अपभ्रंश या प्राकृत व्याकरण में नहीं कहा गया है वह संस्कृत के समान होता है।

> हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय छत्त अहो इव वहन्ती।
> जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी ॥१॥

फण नीचे किये हुए शेष के साथ वाराह के श्वास से ऊपर फेंकी हुई पृथ्वी की जय हो। जो नीचे स्थित सूर्य्य की किरणों से बचने के लिये छाता लगाये हुई सी मालूम होती है। यहाँ 'निवारणाय' संस्कृत व्याकरण के अनुसार बना है।

अपभ्रंश-दर्पण

तृतीय भाग

प्रथम पाठ

(विक्रमोर्वशीय से)

राजा पुरूरवा के उन्माद-वचन ।

मइं जाणिअं मिअ लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥१॥
गन्धुम्माइअ महुअर गीएहिं ।
वज्जन्तेहिं परहुअ-रव-तूरेहिं ॥
पसरिय पवणुव्वेल्लिर पल्लव निअरु ।
सुललिअ विविह-पआरे णच्चइ कप्प-अरु ॥२॥
बहिण पइं इअ अब्भत्थेमि आअक्खहि मं ता ।
एत्थु रण्णे भमन्ते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता ॥
णिसम्महि मिअंक-सरिसें वअणें हंस-गइ ।
एँ चिण्हें जाणिहसि आअक्खिउ तुज्झु मइं ॥३॥
परहुअ महुर-पलाविणि कन्ति ।
नन्दण-वण सच्छन्द भमन्ति ॥

जइ पइं पिअअम सा महु दिट्ठी ।
ता आअक्खहि महु पर पुट्ठि ॥४॥
रे रे हंसा किं गोविज्जइ ।
गइ अणुसारें मइं लक्खिज्जइ ॥
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ-लालस ।
सा पइं दिट्ठी जहणभरालस ॥५॥
हउं पइं पुच्छिमि अक्खहि गअ-वरु ।
ललिअ-पहारें णासिअ-तरु-वरु ॥
दूर-विणिज्जिअ ससहर-कंती ।
दिट्ठी पिअ पइं संमुह जंती ॥६॥
सुर-सुन्दरि जहण-भरालस पीणुत्तुङ्ग-घण-त्थणि ।
थिर-जोव्वण तणु-सरीरि हंस-गइ ॥
गअणुज्जल-काणणे मिअ-लोअणि भमन्ते दिट्ठि पइं ।
तह विरह-समुद्दन्तरें उत्तारहि मइं ॥७॥
लएँ पेक्खिविणु हिअउं भावमि ।
"जइ विहि जोएं पुणु तहिं पावमि ॥
ता रण्णे वि ण करिमि णिब्भन्ती ।
पुणु णइ मेल्लमि दाह कअन्ती ॥८॥
मोरा परहुअ हंस विहङ्गम ।
अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरंगम ॥
तुज्झहं कारणें रण्णे भमन्ते ।
को ण हु पुच्छिउ मइं रोअन्ते ॥९॥

द्वितीय पाठ

(भविसयत्त-कहा से)

तिलक द्वीप में भविसयत्त का भ्रमण।

(१)

परिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु।
णं पुणु वि गवेसउ आउ भाणु॥
जिणु संभरंतु संचलिउ धीरु।
वणि हिण्डइ रोमंचिय-सरीरु॥
सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम।
गय पयहिणति उड्डेवि साम॥
वामंगि सुत्ति रुहुरुहइ वाउ।
पिय-मेलावउ कुलुकुलइ काउ॥
वामउ किलिकिंचउ लावएणु।
दाहिणउ अंगु दरिसिउ मएण॥
दाहिणु लोअणु फंदइ सबाहु।
णं भणइ एण मग्गेण जाहु॥
थोवंतरि दिट्ठु पुराणपंथु।
भविएण वि णं जिण-समय-गंथु॥
सप्पुरिसु वियप्पइ "एण होमि।
विज्जाहर सुर ण छिवंति भूमि॥

णउ अवखहं रक्खहं किण्णराहं ।
लइ इत्थु आसि संचरु णराहं" ॥
संचलिउ लेण पहेण जाम ।
गिरि-कंदरि सो वि पइट्ठु ताम ॥
चिन्तवइ धीरु सुडीरु वीरु ।
"लइ को वि एउ भक्खउ सरीरु ॥
पइसरमि एण विवरंतरेण ।
णिव्वडिउ कज्जु किं वित्थरेण ॥
घत्ता—दुत्तरु दुलघु दूरतरिउ ताम जाम संचरहिं णउ ।
भणु काइं ण सिज्झइ सउरिसहं अवगण्णन्तहं मरण-भउ ॥

(२)

सुहि सयण मरण-भउ परिहरेवि ।
अहिमाणु माणु पउरिमु सरेवि ॥
सत्तक्खर-अहिमंतणु करेवि ।
चंदप्पहु जिणु हियवइ धरेवि ॥
गिरिकंदरि विवरि पइट्ठु बालु ।
अन्तरिउ णाइं कालेण कालु ॥
संचरइ बहल- कज्जल-तमालि ।
णं जिउ वामोह-तमोह-जालि ॥
सेइउ णिरुद्ध पवणुच्छवेण ।
बहिरिउ पमत्त-महुअर-रवेण ॥

चिन्तिउ अचिन्त-णिठ्वुइ वसेण ।
कटइउ असम-साहस-रसेण ॥
अणुसरइ जाम थोवंतरालु ।
त णयरु दिट्ठु ववगय-तमालु ॥
चउ-गोउर चउ-पासाय-सारु ।
चउ-धवल-पओलि दुवार फारु ॥
मणि-रयण-कन्ति-कव्वुरिय देहु ।
सिय-कमल-धवल-पडुरिय-गेहु ॥
घत्ता—तं तेहउ धण कचण पउरु दिट्ठु कुमारि वरणयरु ।
सियवतु वि यणु विच्छाय-छवि णं विणु णीरें कमल-सरु॥

(३)

त पुरं पविस्समाणएण तेण दिट्ठय ।
तं ण तित्थु किंपि जं ण लोयणाण इट्ठयं ॥
वावि-कूव-सुप्पहूव सुपसण्ण वण्णयं ।
मढ विहार देहुरेहिं सुट्ठु त रवण्णय ॥
देव मन्दिरेसु तेसु अतर णियच्छए ।
सोण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए ॥
सुरहि-गंध-परिमल पसूणएहि फंसए ।
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए ॥
पिक्क-सालि धण्णयं पणट्ठयम्मि ताणए ।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए ॥

सरवरम्मि पंकयाइं भमिर भमर कंदिरे।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे॥
हत्थ-गिज्झ वरफलाइं विभएण पिक्खए।
केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए॥
पिच्छिऊण परधणाइ खुद्दभएण लुब्भए।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सु चिन्तए॥
"पुत्ति-चोज्जु पट्टणं विचित्तबंध बंधयं।
वाहि मिच्छ तं जणं दुरक्खसेण खद्धयं॥
पुत्ति चोज्जु राउलं विचित्तभंगि भग्गय।
आसि इत्थु ज पहुं ण याणिमो कहं गयं॥
पुत्ति चोज्जु कारण ण याणिमो अ सहमं।
एक्क-मित्तएहिं कस्स दिज्जए सुविब्भमं॥
घत्ता—विहुणिय सिरु भरडक्खिय-लोयणु,
पइ पइ विभइ अणिमिस-जोअणु।
णवतरु पल्लवदल सोमालउ,
हिण्डइ तित्थु महापुरि बालउ॥

(४)

पिक्खइ मंदिराइं फलअद्धुग्घाटिय-जाल-गवक्खइं।
अद्ध-पलोइराइ णं णव-बहु-णयण-कडक्खइं॥
अह फलहंतरेण दरिसिअ गुज्झंतर-देसइं।
अद्ध-पयंधिआइं विलयाण व ऊरु-पएसइं॥

पिक्खइ आवरगाइं भरियतर भंड-समिद्धइं ।
पर्याडय-पएणयाइ गं गाइणि मउडइं विधइ ॥
एक्क धणाहिलास-पुरिसाइ व रधि पलित्तइ ।
वरइत्त जुवाणइ णं वड्ढ कुमारिहु चित्तइं ॥
जोएसर-विवाय-करणाइं व जोइय-थभइ ।
विहडिय-णेसणाइ मिहुणाण व सुरयारंभइ ॥
पिक्खइ गोउराइं परिवज्जिय-गो-पय-मग्गइं ।
पासायंतराइ पवणुद्धुअ-धवल-धयग्गइं ॥
जाइं जणाउलाइ चिरु आसि महतर भवणइं ।
ताइं मि णिज्भुणाइं सुरयइ सम्मत्तइं मिहुणइं ॥
जाइ णिरतराइ चिरु पाणिय. हारिहु तित्थइं ।
ताइं वि विहि-वसेण हूअइ णीसह सुदुत्थइं ॥
घत्ता—सियवत णियाणइ णियवि तहो उम्माहउ अंगइं भरइ ।
पिक्खंतु णियय-पडिबिंब-तणु सणिणउ सणिणउं संचरइ ॥

(५)

भमइ कुमारु विचित्त-सरूवें ।
सव्वंगि अच्छेरय भूएं ॥
हा विहि पट्टण सुट्ठु रवएणउं ।
किर कज्जेण केण थिउ सुएणउं ॥
हट्टु-मग्गु कुलसील णिउत्तहिं ।
सोह ण देइ रहिउ वणि-उत्तहिं ॥

टिटा-उत्तणहिं बिणु टिटउ ।
णु गय-जोव्वणाउ मयरट्टउ ॥
वरघर पंगणेहि आहोयइ ।
सोह ण दिंति विवज्जिय लोयइ ॥
सोवरणइ मि रसोइ-पएसइं ।
विणु सज्जणहिं णाइ परदेसइं ॥
घत्ता—हा कि बहुवाआ वित्थारेण आए दुहिएण कोण भरिउ ।
तं केम पडीवउ संभिलइ जं खय कालिं अंतरिउ ॥

(६)

एम दिट्ठु तं पट्टणु बाले, ग्वयकालावसाणु णं कालें ।
लीलइ परिसक्कंतु महाइउ, जस हणु-राय-दुवारु पराइउ ॥
राउल सीहं-दुवारइं पिक्खइ, दरविअसति णाइ स-विलक्खइ ।
दिक्खइ णिग्गयाउ गय-मालउ, ण कुल-तियउ विणासिय सीलउ ॥
पिक्खइ तुरय-वलत्थ पएसइं, पत्थण-भगाइं व विगयासइं ।
पिक्खउ सहु पगणउ वि चित्तउ, चिर-चंदण-छड-कद्दमि लित्तउ ॥
पिक्खइ कणअ-वीढु सिंहासणु, छत्तु स चिंधु सचामर वासणु ।
णिप्पहु पहु-परिवार-विवज्जिउ, हसइ व णाइ विलक्खु अलज्जिउ ॥
मणिकंचण चामरइं णियच्छइ; चामर ग्राहिणीउ णउपिच्छइ ।
घत्ता—सहमंडवि राय यशोहणहो पिक्खिवि परिसक्कन्तुणरु ॥
मुत्ताहलमाल-फुल्लुक्कुइहिं रुवइ व थोरसुवहिं घरु ॥

(७)

आउह-साल विसाल विसंति, चित्तविचित्त परामिरिसंति ।
अग्घाइउ सुगंधु मय परिमलु, ण पुव्वकिय सुकिय महाफलु ॥

सोउ करिवि नव-कमल-दलच्छिए, णं णीसासु मुक्कु धरलच्छिए।
तूर भेरि ढ्डि संख सहासइं, वीणा लावणि वंस विसेसइं॥
"जसहण सामि-साल अच्छंतइ, पुर पउरालंकार समत्तइं।
एवहिं अम्हहिं को वज्जावइ," थक्कइ मउणु लएविणु णावइं॥
वहु विलास-मंदिरइं पई सिवि, रइ-हरि भमिवि तवंगि चईसिवि।
णिग्गउ भविस-यत्तु अविसण्णउ, चंदप्पह जिण भवणु पवण्णउ॥
तं पुणु भवणु णिएवि धवलुत्तुङ्ग विसालु।
वियसिय-वयण-रविन्दु मणि परिओसिउ बालु॥

तृतीय पाठ

[कुमारपालचरित के अष्टम सर्ग से]

श्लोक १४ से ८३ तक।

उब्भिय-बाह, असारउ सव्वुवि,
म भमि कुतित्थिअ-पट्टे मुहिआ।
परिहरि तृणु जिम्वँ सव्वुविभव-सुहु,
पत्ता तहमइ एउ कहिआ॥१॥
गङ्गहे जम्वुँणहे भीतरु मेल्लइ,
सरसइ-मज्झि हंसु जइ भिल्लइ।
तय सो केत्थुवि रमइ पहुत्तउ,
जित्थु ठाइ सो मोक्खु निरुत्तउ॥२॥

केणवि जोग-पओगेण कहविहु,
घरि कच्छे सव्वेहिवि वारिहि।
जोअन्तहे वि निहेलण नाहहु
घर-सव्वस्सुवि निज्जइ चोरेहिं ॥३॥

करणाभासहँ मणु उत्तारहु,
करणाभासेहि मुक्खुन कसुहि वि।
आसणु सयणुवि सव्वहो करणेहिँ
करणहु मुक्खु तो निरु सव्वस्सुवि ॥४॥

विसयहं पर-वस मच्छहु मूढा,
बन्धुहँ सहिहुँवि घल्लि वूढा।
दुहुँ ससि-सूरिहि मणु संचारहु,
बन्धुहँ सहिहं व वढ विणु सारहु ॥५॥

गिरिहेविँ आणिउ पाणिउ पिज्जइ
तरुहेँवि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुंव तरुहुंव पडिअउ अच्छइ,
विसयहि तहवि विराउ न गच्छइ ॥६॥

जइ हिम-गिरिहि चडे विणु निवडइ,
अह पयाव तरुहिवि इक्क-मणु,
निक्कइअवें विणु समयाचारेण,
विणु मण-सुद्धिएँ लहइ न सिवु जणु ॥७॥

विणसइ माणुसु विसयासत्ति,
झुज्झइ तरुगण जिम्वँ दावग्गिण।
विसु जिम्वँ विसय पम्मिलिउ दूरें,
अच्छहु चित्तें जोअ-विलग्गेण ॥८॥
विसय म पसरु निरङ्कुसु दिज्जउ,
लोअहो, विसएहिँ मणु कड्ढिज्जइ।
मणु थम्भेविणु पवणि निजोजहु,
मण-पवणेहिँ रुद्धहिँ सिज्झिज्जइ ॥९॥
नाडिउ-इड-पिङ्गलपमुहाओ,
जाणेवाओ पवणेण रुद्धा।
ताउ न जाणइ जो सव्वाओ,
जोगिअ-चरिअए चरइ सु मुद्धा ॥१०॥
गयण-ढलन्त-सुधा-रस-निक्कहे,
अमिअ पिअन्तिहु जोगिअ-पन्तिहुं।
ससहरु बम्भि धरन्तिहु वच्छवि,
भउ नोपज्जइ जर-मरणत्तिहु ॥११॥
वज्जइ वीणा अदिट्ठिहि तन्तिहि,
उट्ठइ रणिउ हणन्तउँ ट्ठाणइं।
जहि वीसाम्बुँ लहइ तं झायहु
मुत्तिहे कारणि चप्फल अन्नइं ॥१२॥

जो जहाँ होतँउ सो तहाँ होतँउ,
सत्तुवि मित्तुवि किहेविहु आवउ।
जहिँ विहु तहिँ घिह मग्गे लीणा,
णक्कए दिट्ठिहि दोण्णिवि जोअहु ॥१३॥

कासु वि जासु वि तासु वि पुरिसहो,
कहेविहु जहेविहु तहेविहु नारिहे।
त्र हितु वयणु चविज्जइ थोवउ,
धं परिणम्वइँ समत्त पयारेहि ॥१४॥

तं बोल्लिअइ जु सच्चुपर, इगुधम्मक्खरु जाणि।
एहो परमत्था एहु सिवु एह सुरयणह-खाणि ॥१५॥
एइ सुसावग ओइ मुणि, पिच्छह, तवहि तवाइ।
आयहो जम्महो एहु फलु, नायइ विसय-सुहाइं ॥१६॥
साहुवि लोउ तडप्फडइ, सव्वुवि पण्डिउ जाणु।
कवणुवि एहु न चिन्तवइ, काइंवि ज निव्वाणु ॥१७॥
सव्वहो कामुवि उवरि तुहु, एहु चिन्तसु निम्मोह।
तुम्हे म निवडहु भव-गहणि, तुम्हइं सुहिआ होह ॥१८॥
तुम्हे निरिक्खउ अप्पु जिम्वँ, तुम्हइ जिम्वँ अप्पाणु।
पइं अणुसासउँ, पम्मु करि, तइँ नेउ अवक्खउठाणु ॥१९॥
पइं करिअव्वी जीव-दय, तइं बोल्लेवउ सच्चु।
पइं सुहु तइ कल्लाण तउ, तउ होहिसि कय-किच्चु ॥२०॥

संवेअव्वा साहु पर तुम्हेहिं इह जम्मम्मि।
तुज्झु समत्तणु तुध खम तउ सजमु चिन्तेमि ॥२१॥
कलि-मलु तुज्झु पणसिही, तउ बन्धेही पावु।
मुक्खुवि तुध न दूरि ठिउ, करि धम्मक्खरि ढावु ॥२२॥
तुम्हहं मुक्खु न दूरि ठिउ जइ सजमु तुम्हासु।
हउं तुम्ह बन्धवु इअ भणिवि गहु जम्पहु सव्वेसु ॥२३॥
अम्हं निन्दउ कोवि जणु, अम्हइ वण्णउ कोवि।
अम्हे नि-दहु कवि नवि, नम्हइ वण्णहुं कवि ॥२४॥
मइं मिल्लेवा भव-गहणु मइं थिर गही बुद्धि।
मत्था हत्थउ सुगुरु मइ, पावउ अप्पहोसुद्धि ॥२५॥
अम्हेहि केणवि विहि-वसिण एहु मणुअत्तणुपत्तु।
मज्झु अदूरे होउ सिवु, महु वश्चउ मिच्छत्तु ॥२६॥
अम्हह मोह-परोहु गउ, सजमु हुउ अम्हासु।
विसय न लोलिम महु करहि, म करहि इअ वीसासु ॥२७॥
रे मन करसि कि आलडो, विसया अच्छहु दूरि।
करणइं अच्छह रुन्धिअइ, कडढ़उं सिव-फलुभूरि ॥२८॥
इणपरि अप्पउ सिक्ख.वसु, तुह अक्खहु परमत्थु।
सुमरि जिणागम, धम्मु करं, संजमुवच्चु पसत्थु ॥२९॥
सजम-लीणहो मोक्ख-सुहु निच्छइ होसइतासु।
पिय बलि कीसुभणन्तिअउ णाइं पहुचहि जासु ॥३०॥

सच्चॅइ वयणॅइ जो भुणइ, उवसमु वुज्झइपहाणु ।
प्रस्सदि सत्तुवि मित्तु जिम्वॅं, सो गुण्हइ निव्वाणु ॥३१॥
तव छुरॅं छोल्लहु अप्पणा कम्म खुडुक्कन्ताइं ।
साहुहु पासहु सुद्धि-गर सुघॅं गुण्हिअ वयणाइं ॥३२॥
स-भला जॉविदु किन करहा, मन वक्खइ अकयत्थ ।
पुलय-पफुल्लिअ मणि धरह गुरु-अण-कधिद-सुअत्थ ॥३३॥
गुरु वय अम्वॅंलइ निवु छिवह भत्ति सिर-कमलेण ।
प्रिउ बोल्लहु पिउ आचरहु तासुजि उवएसेण ॥३४॥
वाया-सपय आस जिम्वॅं धरहि जि सपइ लुद्ध ।
ते गुरु परिहरि विवइ-गर, आवइ डरिआ मुद्ध ॥३५॥
जेम्वॅइ तेम्वॅइ करुणकरि, जिम्वॅं तिम्वॅं आचरिधम्मु ।
जिहविहु तिहविहु पसमुधरि, जिध तिध तोडहिकम्मु ॥३६॥
किम्वॅं जम्मणु, केम्वॅंयमरणु, किह भवु, किध निव्वाणु ।
एहउ तेण परिजाणिअइ जसुजिण-वयण पम्वाँणु ॥३७॥
जेहउ केहउ होइ तरु तेहउ फल-परिणामु ।
कइसउ जइसउ तइसउवि मनकरि मिच्छा धम्मु ॥३८॥
अइसउ भणमि, समत्तुकरि थक्का जेत्थुवि तेत्थु ।
जत्तुवि तत्तुवि रइ करसु सुह-गर परइतहेत्थु ॥३९॥
जाम्वॅं न इन्दिय वसि ठवइ ताम्वॅं न जिणइकसाय ।
जाउँ कसायह न किउ खउ ताउँनकम्म-विघाय ॥४०॥

तांम्वँहि कम्मइं दुद्धरइं जाम्वँहि तवु नवि होइ।
जेवडु फलु तवि साहिअइ तेवडु मुणइ न कोइ ॥४१॥
जेत्तुलु मोक्खं सोक्खडा तेत्तुलु केत्थुवि णाइं।
एत्तुलु केत्तुलु देवँह वि अवरुप्परहु सुहाइं ॥४२॥
तसु केवडउ विवेगु, भणि, जसुमणु एवडु ठावु।
न करावउं न करउं कमवि सुघें अच्छउं नीराउ ॥४३॥
अक्खहुं, तसु नमि गुरुजणहो तव-तेएहिं दुसहस्सु।
वहुहुवि मिच्छा-दसणह जो मउ दलइ अवस्सु ॥४४॥
बम्भु अणुआइसु चरइ जो अणवराइस-चित्तु।
प्राइव प्रावइ तहि जि भवि सो निव्वाणु पवित्तु ॥४५॥
प्राइम्व भवि सुहु दुल्लहउ, पगिम्व जणु सुह-लुद्ध।
तं संतोसामएण विणु प्राउ प्रमग्गहि मुद्ध ॥४६॥
रयण-त्तउ फुडु अणुसरहु अन्नहुमुत्तिकहत्ति।
भण्डइ लब्भहिँ पउरधण, अनु कि नहउ पडन्ति ॥४७॥
कउ बढ भमिअइ भव-गहणि ? मुक्ख कहन्तिहु होइ।
एहु जाणेवउँ जइ मणसि तो जिण-आगम जोइ ॥४८॥
चञ्चल संपय, ध्रुवु मरणु, सव्वुवि एम्व भणेइ।
मिलिवि समाणु महामुणिहिँ पर संजमु न करेइ ॥४९॥
म करि मणाउवि मणु विषसु, मं करि दुक्कय-कम्मु।
बायारम्भुवि मा करहि जइ किर इच्छसि सम्मु ॥५०॥

तित्थिवि अन्छउ अहव वणि अहवइ निअ-गेहेवि ।
दिवे दिवे करइ जु जीव-दय सो सिज्झइ सव्वो वि ॥५१॥
तवं सहु सजमु नाहि जसु, एम्वइ गम्वइ जुदीह ।
पन्छइ तावु न जो करइ, तासु फुसिज्जइ लीह ॥५२॥
सिज्झउ सो नरु गम्वहि जि पत्तहि माणुस-जम्मि ।
जो पडिकूलिवि कुव करइ पक्खलिउ गय-धम्मि ॥५३॥
जइ समारहो विच्चि ठिउ वुन्नउ वुत्तु सो एहु ।
पवणा-वहिल्लउँ अप्पणउ मणु वढ सुथिरु करेहु ॥५४॥
नियम विहूणा रत्तिहि वि खाहिँ जि कसरक्केहिं ।
हुहुरु पडन्ति ति पाव द्रहि, भमडहि भव-लवखेहि ॥५५॥
तव-परिपालणि जसु मणु वि मक्कड-घुग्घिउ देइ ।
आहर-जाहर भव-गहणि सो वइ नहु प्राम्वेइ ॥५६॥
सग्गहो केहि करि जीव-दय, दमु करि मोक्खहो रेसि ।
कहि कसु रेसि तुहु अवर कम्मारम्भ करेसि ॥५७॥
कसु तेहि परिगहु अलिउ कासु तणेण कहेसु ।
जस विणु पुणु अवसें न सिवु अवस तमिहक्कसि लेसु ॥५८॥
काय कुडुल्ली निरु अथिर, जीवियडउ चलु एहु ।
ए जाणिवि भव दोसडा असुहउ भावु चएहु ॥५९॥
ते धन्ना कन्नुलडा, हिअउल्ला ति कयत्थ ।
जे खणि-खणिवि नवुल्लडअ घुण्टहिं धरहिं सुअत्थ ॥६०॥

पइठी कन्नि जिणागमहो वत्तडिआविहु जासु।
अम्हारउ तुम्हारउवि एहु ममत्तु न तासु ॥६१॥
जीवु जित्तुलु जिअइ जिय-लोइ,
जइ तित्तुलु दमु करइ।
गणइ विहवु एत्तुलु न केत्तुलु
तो इत्तहे नाणु लहि जाइ लोइ तेत्तहि निरत्तउ ॥६२॥
भलत्तणु जइ महसि, भल्लपण पसमेण।
जइ करिएव्वउँ पसमु, विजउ तो करेव्वउँ करणहं ॥
जइअ करेवा करण-विजउ, तो मणु निच्चलु धरहु।
णिच्चलु मणु पुणु धरहु करिउ जउ राग-दोसहं ॥
तह विजउ करहि रागाइअह अविचलु समाइउ करिवि।
अविचलु सामाइउं करहि निम्ममत्तु निम्मलु करवि ॥६३॥
अन्तु करेप्पि निरानिउ कोहहो,
अन्तु करेप्पिणु सव्वहमाणहो।
अन्तु करेविणु माया-जालहो,
अन्तु करेवि नियत्तसु लोहहो ॥६४॥
जइ चएव मणसि संसारु सिव मुक्ख-भुञ्जण तुरिउ।
तो किर सङ्ग मुञ्चणहिं करि मणु।
तह सुह गुरु सेवणहं, निम्ममत्तु अइ दढु करेविणु ॥६५॥
चित्त करेवि अणाउलउ, वयणु करेप्पि अचप्पलउं।
कम्मु करेप्पिणु निम्मलउ, झाणु पउञ्जसु निच्चलउं ॥६६॥

जमुण गमेप्पि गमेप्पिणु अम्हवि,
गम्पिव सरस्सइ, गम्प्पिणु नर्मद।
लोउ अजाणउ जं जलि बुड्डइ
नंपसु किं नीरइं सिव समंद ॥६७॥
नाइ निवेसिउ नउ लिहिउ नावइ टङ्कुक्किएण,
जणि पडिबिम्बिउ, जणु सहजु, करि जिणु
मणि ओइएणु ॥६८॥
लिङ्गु अतन्त्रउं जइ नो कुवा
लहइ कृपालू निव्वुदि नृवा ॥६९॥
इअ सव्वभास-विनिमय-परिहिँ
परमत्तु सव्वुवि कहिवि।
निअ कण्ठमाल ठवि नृव-उरसि
गइअ देवि मङ्गलु भणिवि ॥७०॥

—:(*):—

चतुर्थ पाठ

(संजममंजरो से)

[१]

गाढ परिग्रहग्रहगहिउ नरु हारइ अपवग्गु।
मिल्हि परिग्रह दुव्वसणु सिव सुहकारणि लग्गु॥

[२]

पररमणी जे रूवभरि पिक्खिवि जे विहसति।
रागनिबंधण तेणयण जिण जम्महु नहुहुन्ति॥

[३]

जीव म रंजहि मणरयण सुणविमणोहर गेउ।
खर निट्ठुर सद्दावसरि माकरि मणि उव्वेउ॥

[४]

मय गय महुअर भस सलहु निय निय विसय पसत्त।
इक्कक्केण इ इन्दियण दुःख निरंतर पत्त॥

[५]

इक्किणि इदिय मुक्कलिण लब्भइ दुक्ख सहस्स।
जसु पुण पचइ मुक्कला, कह कुसलत्तणु तस्स॥

[६]

इन्दियसुक्खि म रइ करहु सभावहिं अपवग्गु।
जिअ खणभंगुर विसयसुहमग्गि अलग्गि म लग्गु॥

[७]

वरिससहस्सिहिं जं कियउ तवु संजमु उवयारु।
कोहमहानल संगमिण सो दहि किज्जइ छारु॥

[८]

विणु नाणेण चरित्तु नहु विण चरणेण न मुक्खु।
मुक्खु विहीणहँ कहवि नहु होइ निरंतर सुक्खु॥

[९]

जेण ण रुद्धउ विसयमुहि धावंतउ मणुमीणु।
तेण भमेवउ भवगहणि जंपंतइ जण दीणु॥

[१०]

जिणचंद गुरुजण विणउ तवु संजमु उवआरु।
जं किज्जइ खणभंगुरिण देहइ इत्तिउ सारु॥

[११]

ममणह भूमण गय वसण सं:मंजरिएह।
सिरि माहेसरसूरि गुरु कन्नि कुणंत सुणेह॥

[महेश्वरसूरि]

पंचम पाठ

(प्राकृत-पैंगलम् से)

अबुह बुहाण मज्झे
कव्व जो पढ़इ लक्खणबिहूणं।
भूअग्ग लग्ग खग्गहिँ
सीस खुलिअ ण जाणेइ॥१॥

जेण विणा ण जिविज्जइ
अणुणिज्जइ सो कआवराहोवि।
पत्ते वि णअर डाहे
भण कस्स ण वल्लहो अग्गी॥२॥

मुंचहि सुंदरि पाअं
अप्पहि हसिऊण सुमुहि खग्गं मे ।
कप्पिअ मेच्छ सरीर
पेच्छहि तुमह धुअ हम्मीरो ॥३॥

सुर अरु सुरही परसमणि
णहि वीरेस समाण ।
ओ वक्कल अरु कठिन तणु,
ओ पसु ओ पासाण ॥४॥

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिय झंपिय ।
कमठ पीठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ ॥
कोह चलय हम्मीर वीर गअ जूह सजुत्ते ।
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते ॥५॥

जसु सीसइ गंगा गोरि अधंगा गिव पहरिअ फणिहारा ।
कठट्ठिअ वीसा पिंधण दीसा, संतारिअ संसारा ॥
किरणावलि कंदा बंदिअ चंदा णअणहि अणल फुरंता ।
सो संपअ दिज्जउ बहु सुह किज्जउ तुह्म भवाणी कंता ॥६॥

पिंधउ दिढ सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर बअण लइ ॥
उड्डुल णह पह भमउ खग्ग रिउसीसहि डारउ ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्बअ अप्फालउ ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह मह जलउ ।
सुलताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ ॥७॥

जाआ जा अद्धंग सीस गंगा लोलंती।
सव्वासा पूरति सव्व दुक्खा तोलती ॥
गाआ राआ हार दीस वासा भासता।
वेआला जा सग गट्ठ दुट्ठा णासंता ॥
णाचता कता उच्छ्वे ताले भूमी कंपले।
जा दिट्ठे मोक्खा पाविज्ज सो तुम्हाणं सुक्खदे ॥८॥
रे धणि मत्त मअगज गामिणि खंजण-लोअणि चंदमुही।
चचल जुव्वण जात ण जाणहि छइल समप्पहि काइ णही ।९।
राआ लुद्ध समाज खल बहु कलहारिणि सेवक धुत्तउ।
जीवण चाहसि सुक्ख जइ परिहर घर जइ बहु गुणवंतउ॥१०॥

णच्चइ चचल बिज्जुलिआ सहि जाणए।
मम्मह खग्ग वि.णीसइ जलहर साणए ॥
फुल्ल कअवअ अंबर डंबर दीसए।
पाउस पाउ घणाघण सुमुहि बरीसए ॥११॥

घर लग्गइ अग्गि जलइ धह धह कइ दिगमग णहपह अणल भरे।
सब दीस पसरि पाइक्क लुलइ धणि, थणहर जहण दिआव करे ॥
भअ लुक्किअ थक्किअ वैरितरुणिजण भैरव भेरिअ सद्द पले।
महि लोट्टइ पिट्टइ रिउ-सिर टुट्टइ जक्खण बीर हमीर चले ॥१२॥

फुल्ला णीवा भम भमरा, दिट्ठा मेहा जल-समला।
णच्चै विज्जू पिअ सहिआ, आवे कंता कहु कहिआ ॥१३॥
चलि चूअ कोइल साव, महुमास पंचम गाव।
मण मज्झ बम्महु ताव, णहु कंत अज्जवि आव ॥१४॥

अइ चल जोव्वण देह धण सिविणअ सोअर बंधु जणा।
अवसउ कालपुरी गमणा परिहर बव्वर पापमणा ॥१५॥
बालो कुमारो स छमुंड धारी उप्पाउ हीणा हउं एक्क णारी।
अह णिस खाहि बिस भिखारी गई भवित्ती किल का हमारी॥१६
महा मत्त माअंग पाए ठवीआ,
तहा तिक्ख बाणा कडक्खे धरीआ।
भुआ पास भोहा धणूहा समाणा,
अहो णाअरी काम राअस्स सेणा ॥१७॥
बहइ दक्खिण मारुअ सीअला, गवइ पचम कोमल कोइला।
महुअरा महुपाण बहूसरा भमइ सुंदरि माहव संभवा ॥१८॥
णव मंजरि लिज्जिअ चूअह गाछे,
परिफुल्लअ केसु णआ वण आछे।
जइ एत्थि दिगंतर जाइहि कंता,
किअ बम्मह णत्थि कि णत्थि वसंता ॥१९॥
खंजण जुअल णअणवर उपमा, चारु कणअ लइ भुअजुअ सुसमा।
फुल्ल कमल मुहि गअवर गमणी, कस्स सुकिअ फल बिहि गढु तरुणी॥२०।
जहि फुल्ल केसु असोअ चंपअ मंजुला,
सहआर केसर गंध लुद्धउ भम्मरा।
बहु दक्ख दक्खिण बाउ माणह भंजणा,
महु मास आबिअ लोअ लोअण रंजणा ॥२१॥
बहइ मलअबाआ हंत कम्पंत काया,
हणइ सवणरंधा कोइलालाब बंधा।
सुणिअ दहदिहासु भिंग झंकारभारा,
हणिअ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा ॥२२॥

पाअ णेउर झंझणक्कइ हंस सद्द सुसोहणा,
थूर थोर थणग्ग णच्चइ मोत्तिदाम मणोहरा।
बाम दाहिण धारि धावइ तिक्ख चक्खु कडक्खआ,
काहु णाअर गेहमंडणि एहु सुन्दरि पेक्खिआ ॥२३॥
जहं फुल्ल कआइ चारु चपअ चूअ मंजरि वंजुला,
सब दीस दीसइ केसु काणण पाण बाउल भम्मरा।
बह पोम्मगंध विबंधु बंधुर मंद मंद समीरणा,
णिअ केलि कोतुक लास लंगिम लग्गिआ तरुणी जणा ॥२४॥
फुल्लिअ केसु चंद तह पअलिअ, मंजरि तेज्जइ चूआ।
दक्खिण बाउ सीअ भइ पवहइ, कंप विओइणि हीआ ॥
केअइ धूलि सब्बदिस पसरइ, पीअर सब्बउ भासे।
आउ बसंत काइ सहि करिआइ, कंत ण थक्कइ पासे ॥२५॥

षष्ठ पाठ

(विविध कवियों के काव्यों से)

(क)

अवरोप्परु जलकील करतहु घण-पाणिय-पयहर मेल्लन्त हुं।
कहिमि चंद कुंदुज्जल तारेहिं धवलिउ जलु तुट्टंतिहु हारेहि ॥
कहिमि रसिउ णेउरहिं रसतिहिं कहिमि फुरिउ कुंडलहिं फुरंतहि।
कहिं मि सरस तंबोला रत्तउ कहिं मि बउल-कायंबरि-मत्तउ ॥

कहि मि फलिह-कप्पुरेहिं वासिउ, कहि मि सुरहि-मिग-मय वामीसिउ।
कहि मि विविह-मणि रयणुज्जलिउ,कहि मि धोय-कज्जल-संवलिअउ॥
कहि मि बहल-कुंकुम-पंजरिअउ कहि मि मलय-चंदणरस भरिअउ।
कहि मि जक्ख-कद्दमेण करंबिउ, कहि मि भ्रमर-रिंछोलिहिं चुंबिउ॥

घत्ता—

विद्दुम-मरगय-इंद-णील-मय चामियरहार संधायहिं।
बहुवण्णुज्जलु णावइ णहयलु सुरधणु-घण-विज्ज-वलायहिं॥

(चउमुह सयंभु)

(ख)

पुणु पुच्छइ महीसरो सयल-लोय-पालो।
महुर महा-भुणीए अक्खइ ति-लोय-वालो॥
"किं इह ति-हुयणे सारु भड़ारा,"धम्म-रयणु भो महिहरधारा।
"किं दुल्लहु भव लक्खिहिं जिणवर," 'पव्वज्जा-णिहाणु हे सिरिहर'।
'किं सुहु लोयालोइ महागुरु,' 'बाहरहिउ अहो मुसुभूरिअ मुरु'।
'के जीवहो वइरिय तित्थंकर,' 'कोह मोहभय अच्छी हरिहर'।
'किं पालणिउ ण्त्थु सव्वणहं,' 'धुउ सम्मत्तु सीलु अइ विणहं'।
'कि सुन्दरु करणिज्जु दयारुह,' 'दाणुपुज्ज हो देवइ-तणु-रुह'।
'के दूसह तियसेसर-सामिय,' 'पवर-परीसह खग-वइ गामिय'।
'किं बलवंतउ समर-विमद्दण,' 'जीवहो चिरु-कय-कम्म-जणद्दण'।
'कवणु देउ केवल-वर-लोयण,' 'दोस-विवज्जिउ हा महु-सूयण'।
'कवणु धम्मु जगि णाणुप्पायण' 'जीव-दया वरु हे णारायण'।
'किं संसारहो मूलु णिरासव,' 'गरुअ पमाउ मुणहिं मणि केसव'।

'किं कट्टयरु सिद्धि-अब्भावहु,' 'अरणारणत्तणु जउ-वइ माहव'।

घत्ता—

'जीव-णिकायहो कि दढ़-बंधणु मुवणुत्तम,'
'विविह-परिग्गहु गेहिणि-सणेहु पुरिसोत्तम'।

(तिहुयणसयंभु)

(ग)

सहुं भायरहि समिद्धु णायणाय णिहालइ।
पहु समुद्द-विजयंकु महि मंडलु परिपालइ ॥
एक्कहि दिणि आरूढउ करिवरि, णावइ ससहरु उइय मही-हरि।
अ-सहस-णयणु णाइं कुलिसाउहु, अ-कुसुम-सरु णं सइं कुसुमाउहु॥
णं अ-क्खारु स लवणु रयणा-अरु, अ-कवड़-निलउ णाइ दामोयरु
अ-मल देहु णावइ उज्जो अणु, जग-संखोह-कारि णावइ जिणु ॥
चामर छत्त चिन्ध सिरि सोहिउ, विविहाहरण-विशेष-पसाहिउ।
सो वसुएउ कुमारु पुरंतरि हिण्डइ हट्ट-मग्गि घरि चत्तरि।
सो ण पुरिसु जें दिट्ठिए ढोइय, सा ण दिट्ठि जा तहु ण पराइय ॥
मणुअ देउ सो कासु ण भावइ, संचरंत तरुणी-यणु तावइ।
घत्ता—का वि कुमारु णियति रोमि रोमि पुलइज्जइ।
अलहन्ती तहु चित्तु पुणरवि तिलु तिलु खिज्जइ ॥

(पुप्फयंतु)

(घ)

देह विभिण्णउ णाण-मउ जो परमप्पु णिएइ।
परम समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१॥

वेयहिं सत्थहिं-इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥२॥
जसु हिरणच्छि हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।
एक्कहिं केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥३॥
देउ ण देउलि णवि सिलए ण वि लिप्पइ ण विचित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥४॥
विसय-सुहइं बे दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पणु खंधि कुहाडि ॥५॥

(जोइन्दु)

(छ)

लोअह गव्व समुब्बहइ 'हउँ परमत्थे पवीण' ।
कोडिह मज्झे एक्कु जइ होइ निरंजण-लीण ॥१॥
आगम वेअ पुराणे पंडित्ता माण बहन्ति ।
पक्क-सिरिफले अलिअ जिम बाहेरित भुमयन्ति ॥२॥
जो संवेअइ मण-रयण अहरह सहज फरन्त ।
सो पर जाणइ धम्मगइ, अन्न कि मुनइ कहन्त ॥३॥
सहजें निश्चल जेण किय समरसें निअमण राअ ।
सिद्धो सो पुण तक्खणो णउ जरमरणह भाय ॥४॥

(काण्ह)

(च)

जो णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सियालह ।
लोमोप्पाटणे अत्थि सिद्धि ता जुवइ-णितंबह ॥

पिच्छी-गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह ।
उंछ-भोअणें होइ जाण ता करिह तुरङ्गह ।।
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किंपि न भावइ ।
तत्तरहिअ-काया ण ताव पर केवल साहइ ।।१।।

(सरह)

(छ)

सो सज्जणो कइसओ ? रायहंसो जइसओ,
विसुद्धोभय-पक्खो पय-विसेस-एगुओ व्व ।

तहे रायहंसो विः—

उब्भड-जलयाडंबरहि पावइ माणस-दुक्खइं ।
सज्जणु पुणु जाणेइ जिज खल-जल-यहं सहावइं ।।
तेण हसिउं अच्छइ ।

होउ पुण्णिमा-यंदु जइसउ, सयलकला-भरिउ जणमणाणंदो व्व । तहे पुण्णिमायंदो वि कलंक-दूसिओ, अहिसारियाण मण-दूमिओ य । सज्जणो पुण अकलंको सव्वजणदिहि करो व्व । अवि मुणालु जइसउ, खंडिज्जन्तोवि अखुडिय-णेह-तंतु सु-सीयलो व्व । तहे मुणालु वि ईसि कंडूल-सहाओ जल संसग्गि वडिढओ व्व । सज्जणु पुणु महुर-सहावु वियड्ढ-वड्ढिय-रसो य । हूं । च, दिसा-गओ जइसओ, सहावुण्णओ अणवरय-पयट्ट-दाण-पसरो य । तहे दिसा-गओ वि मय-विआरेण घेप्पइ, दाण-समये य सामा-यंत-वयणो होइ । सज्जणु पुणि अजाय-

मय-पसरु दंत हो य विअसइ वयण-कमलु। होउ मुत्ताहारु जइसउ, सहाव विमलो वहु-गुणसारो य। तहे मुत्ताहारो वि छिड्ड-सय निरंतरो वण-वड्ढिओ अ। सज्जणो पुण अ-छिड्ड-गुण-पसरो णायरओ अ, कि बहुणा ? समुद्द जइसउ, गभीर सहाउ महत्थो य। तहे समुद्दो वि उक्कलियासय-पउरो णिक्क-कलयला रावुव्वेविय-पास जणो व दुग्गय-कुडुम्बहो जि अणुहरइ। सज्जणु पुणि मंथर-सहावो महु-महुर-वयण-परितोसिय-जणवयो त्ति।

अवि य:—

सरलो पियवओ दक्खिण्णो चाई गुणण्णओ सुहओ।
मह जीविएण वि चिर सुअणु चिअ जियउ लोयम्मि ॥

(उज्जोयण सूरि)

उद्धृत अंशों का अनुवाद।

प्रथम पाठ

१। जब तक नयी बिजली से युक्त श्यामल मेघ बरसने न लगा तबतक मैंने यही समझा था कि मेरी मृगलोचना प्रियतमा को शायद कोई निशिचर हरण कर लिये जा रहा है।

२। गन्ध से उन्मत्त भ्रमरों की गुञ्जार तथा बजती हुई, कोयल रूपी तुरही के साथ वह कल्पवृक्ष विविध प्रकार से अत्यन्त सुन्दर ढंग से नाच रहा है जिसकी शाखायें तथा पल्लव फैले हुए पवन से आन्दोलित हो रहे हैं।

३। हे मयूर ! मैं तुम से यह प्रार्थना करता हूं कि यदि इस अरण्य में भ्रमण करती हुई मेरी प्रियतमा को देखा हो तो मुझ से कहो। सुनो, चन्द्रमा के समान मुख तथा हंस के समान चाल इन चिन्हों से तुम उसे पहचान सकते हो। अतः इन दोनों को मैंने तुमसे कह दिया है।

४। अरी दूसरों से पाली जाने वाली कोयल ! मेरी मधुर भाषिणी प्रियतमा कान्ता को यदि नन्दन वन में स्वच्छन्द घूमती हुई तू ने देखा हो तो मुझे बता।

५। रे रे हंस ! तू मुझ से क्या छिपा रहा है ? तेरी चाल ही से मैं पहचान चुका हूं कि तुमने मेरी जघन-भरालस प्रियतमा को अवश्य देखा है। नहीं तो तेरे जैसे गति के लालची को इतनी सुन्दर चाल की शिक्षा किसने दी है ?

६। हे अपने हलके झटके से वृक्षों को तोड़ डालनेवाले गजवर ! मैं तुझ से पूछता हूं कह। चन्द्रमा की कान्ति कोपूर्णतः जीत लेने वाली मेरी प्रिया को क्या तूने सामने से जाती हुई देखा है ?

७। उस सुरसुन्दरी, जघनभरालसा, मोटे, ऊंचे और घने स्तनोंवाली, स्थिरयौवना, सूक्ष्मशरीरवाली, हंसों कैसी चाल

वाली मृगलोचना को यदि तुमने आकाश के समान उज्ज्वल कानन मे घूमती हुई देखा हो तो विरहरूपी समुद्र के भीतर से मुझे बाहर करो।

८। लता को देख कर मेरे हृदय मे ऐसा भाव उठता है कि यदि मै विधियोग से उसे फिर पा जाऊंगा तो जंगल मे भी न घूमूगा। उस दाह उत्पन्न करने वाली को फिर कदापि न छोडूंगा।

९। मोर, कोयल, हस, पक्षी, भ्रमर, हाथी, पर्वत, नदी तथा हरिण इन मे से किससे मैने, तेरे कारण जगल में भ्रमण करते हुए, रो रो कर, नही पूछा ?

द्वितीय पाठ।

१। रात्रि का अंत हुआ। प्रातः काल प्रकट हुआ। मानो सूर्य ससार का अन्वेषण करता हुआ पुनः आ पहुंचा। जिन भगवान का स्मरण कर वह धीर फिर चला। रोमाञ्चित शरीर होकर वन में भ्रमण करने लगा। वहाँ उसे शुभ शकुन दीखने लगे। श्यामा दक्षिण तरफ उड़ने लगी। बायीं ओर मन्दमन्द वायु बहने लगी। कौआ प्रिय-मिलन की सूचना देने के लिये बोलने लगा। बायीं ओर लावा ने किलकिल की आवाज सुनायी और दाहिनी ओर मृगो ने अपने अंग दिखलाये। भुजा के साथ दाहिना नेत्र भी फड़कने लगा। मानो वह कह रहा था कि इसी

मार्ग से जाइये। थोड़ी देर बाद उसने एक पुराना मार्ग देखा जैसे कोई सौभाग्य से जैनधर्म के ग्रन्थो को प्राप्त करे। वह सज्जन विचार करने लगा कि विद्याधर और देवगण तो पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते। यहाँ पर यक्ष या राक्षसो का भी सचार नही है। अतः इस माग पर मनुष्य ही अवश्य चलते होंगे अतएव इसी मार्ग से मै चलूं। जब उस मार्ग से चला तो उसको एक गिरिकन्दरा मे प्रवेश करते पाया। वह धोर वीर पुरुष यह विचार करने लगा "अच्छा, इस शरीर को कोई खाहो ले, इसी विवर मे प्रवेश कर जाऊं। अब मेरा कार्य्य पूरा हो गया। विस्तार-की क्या आवश्यकता"। पुरुषार्थी मनुष्य दुस्तर, दुर्लंध्य, और दूरतक भीतर पहुँचे हुए स्थानो मे चले जाते हैं। भला मृत्यु-भय का निरादर करने वाले पुरुषों के पुरुषार्थ से क्या नहीं सिद्ध होता ?

२। सुहृद, स्वजन, तथा मरणभय को छोड़कर, अभिमान तथा पौरुष का स्मरण कर, सप्राक्षर मत्र का जाप कर और चद्रमा की प्रभा से युक्त जिन भगवान को हृदय मे रखकर वह तरुण पुरुष कज्जल के समान अधकार से युक्त गिरिकन्दरा में उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ जैसे काल (समय) से छिपा हुआ काल (मृत्यु) चलता है। अथवा जिस प्रकार जोव व्यामोह-रूपी अन्धकार के समूहरूपी जाल मे प्रविष्ट होता है। पवन के संचार से रहित होने के कारण उस कन्दरा मे वह पसीने से तर हो गया। मतवाले भौंरों की आवाज से वह बहरा सा हो रहा

था। किसी अचिन्त्य सुख के कारण वह चिन्तातुर हो रहा था और विषम साहस के कारण रोमाञ्चित। जब कुछ दूर और गया तो एक अन्धकारहीन नगर दीख पड़ा। उस में चार बड़े प्रासाद तथा चार गोपुर दीख पड़े। चार बड़े बड़े दरवाजे दीख पड़े। उस नगर में मणियों और रत्नों की कान्ति छिटक रही थी। उस नगर के प्रत्येक गृह में उज्ज्वल कमलों की छटा छा रही थी। कुमार ने उस प्रकार के प्रचुर धन-काञ्चनसंपन्न नगर को देखा। यद्यपि वह नगर धनरत्नसंपन्न था तथापि निर्जन होने के कारण जलहीन कमल पूर्ण सरोवर की भाँति वह सौंदर्य्य-हीन मालूम पड़ता था।

३। उस पुर में प्रवेश करते हुए उसने ऐसी कोई वस्तु न देखी जो नेत्रों को प्रिय न हो। वापी और कूप वहाँ बहुत सुन्दर और बहुत अधिक दीख पड़े। वह नगर मठ मन्दिर और विहारों के कारण सुन्दर तथा रमणीय मालूम पड़ता था। किन्तु उन मन्दिरों में उसने किसी व्यक्ति को पूजा करने के लिये आते हुए न देखा। फूलों से वह मीठा परिमल निकलते पाता था किन्तु वहाँ कोई भी ऐसा न था जो उनको लेकर सूंघे। पके धान तथा अन्न को नष्ट होने से बचाने के लिये कोई उस पुर में ऐसा न था जो काट कर उन्हें घर लावे। भ्रमण-शील भ्रमरों की गुंजार से युक्त पंकज तो वहाँ के सरोवरों मे दीख पड़ते थे किन्तु उनको तोड़ कर घर लानेवाला कोई नहीं दीख पड़ता था। उसे यह देखकर बड़ा विस्मय होता था कि हस्तग्राह्य श्रेष्ठ फल

तो यहाँ है किन्तु किस कारण से कोई भी उन्हें तोड़ कर नहीं खा जाता। दूसरे के धन को देख कर न तो उसे क्षोभ ही होता था और न लोभ ही। बस अपने आप वह मन में सोच रहा था। आश्चर्य्य है, यह नगर विचित्र ढंग से निर्म्मित हुआ है किन्तु यहाँ के लोग व्याधि से मर गये, म्लेच्छों से नष्ट किये गये अथवा किसी राक्षस ने खा लिया। आश्चर्य्य है, इस राजकुल का निर्माण तो बड़े विचित्र ढग से हुआ है पर यहाँ का जो राजा था वह न मालूम कहाँ चला गया। आश्चर्य्य है, इसका कारण नहीं मालूम पड़ता कि एक मात्र किसके कारण से यह सब अवस्था हो गई है। वह कुमार नसों में धड़कन लेकर, नेत्र फैलाकर पद पद पर विस्मय के कारण अनिमिष नेत्रो से देखता हुआ नये वृक्षा के पल्लवों के दलो के कारण सुकुमार उस महा नगर मे भ्रमण कर रहा था।

४। वहाँ पर आधे खुले हुए झरोखेवाले मन्दिर दीख पड़े। उनकी छटा कनखियों से देखनेवाली नव वधुओं के नेत्रों के कटाक्षों की सी मालूम पड़ती थी। उन गवाक्षों के काच-फलकों से उन मन्दिरों के छिपे हुए भाग उसी प्रकार दृष्टि-गोचर हो रहे थे जिस प्रकार अपर्य्याप्त तथा झीने वस्त्रों से आवृत वनिताओं के उरु प्रदेश दृष्टिगोचर होते हैं। भीतर विविध वस्तुओं के भाण्डों से भरे हुए बाजारो की शोभा नागिनी के फण पर स्थित चिह्न के समान मालूम होती थी। बाजारो का अन्धकार-पूर्ण भाग प्रकाशित था। जैसे विवाह की इच्छा रखने वाले पुरुषो के चित्त

किसी श्रेष्ठ कुमारी पर ही पड़ते हैं। उन बाजारों में लोगों की भीड़ योगियों के विवादों के समान दीख पड़ती थी। नगर में भीड़ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे वस्त्ररहित मिथुनों के सुरतारम्भ। उसने दरवाजों को गोपद-मार्गों से रहित देखा। प्रासाद के भीतर वायु के द्वारा कम्पित उज्ज्वल ध्वजायें दीख पड़ीं। जो महल पहले लोगों से भर कर सदा कोलाहलमय थे आज वे इस प्रकार निःशब्द थे जैसे सुरत समाप्त किये हुए मिथुन। जो पवित्र जलाशय पनिहारिनों से सदा भरे रहते थे वे आज संयोग वश निःशब्द थे। सम्पत्ति-शाली स्थानों को देख कर उनके अंगों में उन्माद भर रहा था। अपनी छाया मात्र को देखता हुआ वह शनैःशनैः चल रहा था।

५। कुमार विचित्र ढंग से घूम रहा था। उसके सारे अंग में आश्चर्य भर रहा था। हाय विधे! यह शोभन और रमणीय नगर किस कारण से शून्य है? यह बाजारमार्ग कुलशील संपन्न वणिक्-पुत्रों से हीन हो कर शोभा नहीं दे रहा है। इसकी अवस्था इस समय वैसी ही हो रही है जैसी जुआ खेलने वालों के बिना द्यूत-गृह की अथवा यौवन-हीन वार वनिता की। श्रेष्ठ गृहों के प्रांगणों का विस्तार लोगों से रहित होकर शोभा नहीं दे रहा है। पात्रों से युक्त भी रसोई घर शून्य होने के कारण अच्छे नहीं लगते। उनकी अवस्था ठीक वैसी ही है जैसी सज्जनों के बिना परदेश की। हाय, अधिक कहने से क्या फल? इसको देखकर कौन दुःखी नहीं होता? जो क्षयकाल से युक्त है वह समृद्धि से कैसे मिल सकता है।

६। जिस प्रकार क्षयकाल का अवसान काल देखता है, उसी प्रकार उस कुमार ने उस नगर को देखा। लीला से घूमते हुए उसने यशोधनराज का प्रासाद देखा। राजकुल का सिंहद्वार उसने क्षोभ के साथ विकसित सा देखा। उसने गज-हीन गज शालाओं को शीलहीन कुलस्त्रियों सी देखा। उसने अश्व-शालाओं को प्रार्थना-भंग के समान हताश देखा। सभी आँगन को विचित्र चंदन-पंक-से लिपा हुआ, तथा चमर और छत्र से युक्त स्वर्ण-सिंहासन को देखा। वे सब निष्प्रभ प्रभुपरिवार रहित निर्लज्ज के ऐसे दीख पड़े। मणिजटित चामर तो देखा पर चामरग्राहिणियों को न देखा। यशोधन राज के सभामंडप में किसी मनुष्य को घूमते हुए देखकर मुक्ता-माल की झलक रुपी स्थूल-अश्रुविन्दुओं से गृहसब रो रहे थे।

७। विशाल आयुध-शाला में प्रवेश करते हुए उसने तरह-तरह से विचार किया। उसने सुगंधमय परिमल का स्वाद लिया जिस प्रकार मनुष्य पूर्व कृत सुकृतों का महाफल पाता है। अथवा वह परिमल नहीं था वरन् उस गृह की लक्ष्मी के द्वारा छोड़ा हुआ निःश्वास था। तूर्य, भेरी, दडि एवं सहस्त्रों शंख तथा वीणा और वंशी इत्यादि वहाँ उसने देखे। स्वामी-श्रेष्ठ यशोधन के न रहने पर पुरश्रेष्ठ के अलंकार समाप्त हो जाने पर हमसबों को कौन बनावेगा? मानो यही सोचकर वे सब मौन थे। बहुत से विलास-मन्दिरों मे प्रवेश कर, रति-गृह में भ्रमणकर और मंच पर बैठ कर भविष्यदत्त निकला। पास ही चन्द्र-प्रभ

'जिन' का मन्दिर था। वहाँ पैठते ही उसका सारा विषाद दूर हो गया। उस धवल, उत्तुंग, और विशाल जिन भवन को देख कर वह कुमार मन में प्रसन्न होगया और उसका वदनारविन्द विकसित हो गया।

तृतीय पाठ

१। हे पुत्र! मैं बाँह उठा कर तुम से कहता हूं कि पुत्रकलत्रादि सब असार हैं। अतएव कुतीर्थिक-पृष्ठों में व्यर्थ मत घूमो अर्थात् पाषण्ड का आश्रय मतलो। संसार के सब सुखों को तृण के समान त्याग दो। बस इतना ही तुम से कहना है।

२। गङ्गा और यमुना के भीतर जब हंस प्रवेश करता है तथा सरस्वती में जब वह स्नान कर लेता है तब वह जहाँ कहीं जाता है वहीं निश्चिन्त हो कर रमण करता है। यहाँ गङ्गा का अर्थ इड़ा नाड़ी, यमुना का अर्थ पिङ्गला नाड़ी तथा सरस्वती का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी है। हंस का अर्थ आत्मा है। जब आत्मा इड़ा पिङ्गला को छोड़ कर सुषुम्ना में प्रवेश करती है तब समभाव को प्राप्त होती है और मुक्त हो जाती है।

३। किसी योग के प्रयोग द्वारा सभी इन्द्रियों को अपने शरीर में ही रोकने पर भी और गृहस्वामी अर्थात् आत्मा के जाग्रत रहने पर भी उसका सर्वस्व (ज्ञान) (रागादि) चोरों के द्वारा हरण कर लिया जाता है। अतएव ज्ञान की रक्षा के निमित्त राग द्वेषादि का नाश कर देना आवश्यक है।

४। हे लोगो ! पद्मासनादि के विपरीत आसनों से मन फेर लो। क्योंकि केवल करणाभासों (इन्द्रियों के आसनों) से ही किसी को मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। योगियों के आसन-शयन इत्यादि सब कारणों से ही होते हैं। प्रशस्तासनों से मोक्ष निश्चित है। निषिद्धासनो का त्याग तथा प्रशस्तासनों का अवलम्बन मोक्ष के लिये आवश्यक है।

५। हे मूर्खो ! विषयो के परवश न हो। बन्धु बान्धव सम्यादि के मोह मे मत पड़ो। शशि (इड़ा), और सूर्य (पिङ्गला) मे मन लगाओ। बन्धु और मित्रों से शीघ्र पृथक् हो कर रहो।

६। पर्वत के झरनों का पानी पीओ। वृक्षो से गिरे हुए फल खाओ। पर्वत और वृक्षो से पतित होना आसान है, किन्तु बिषयो से वैराग्य होना कठिन है।

७। चाहे हिमालय पर्वत से अथवा अक्षयवट से मनुष्य भले ही पतित हो जाय पर उसे निष्कपट मनःशुद्धि के बिना शिव (मोक्ष) नहीं मिल सकता।

८। जिस प्रकार दावाग्नि से वृक्ष जल जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य विषयासक्ति से नष्ट हो जाते हैं। विष के समान विषयों को दूर रख कर समाधिलीन होकर रहो।

९। हे लोगो ! अपने मन में विषयों का निरङ्कुश प्रसार न होने दो। विषय मन को आकर्षित करते हैं। मन को संयमित

कर इड़ा पिङ्गला के भीतर वहने वाले पवन मे लगाओ। क्योंकि मन और पवन दोनों एक साथ रुद्ध कर लोग मुक्त होते हैं।

१०। शरीर मे बहुत सी शिराओं के रहते हुए भी त्रिकाल ज्ञान का हेतु होने के कारण इड़ा पिङ्गला और सुषुम्ना की प्रधानता है। इन मे से प्रत्येक ढाई घड़ी तक पाँच प्राणों से रोकी जा सकती हैं। उन इड़ादि नाडियो को जो पूर्णतया न जानता है उसकी योगचर्य्या निरर्थक है।

११। ब्रह्मरन्ध्र से (गगन अथवा दशवें द्वार से) नीका (इड़ा नामक वाम नासिका) मे आता हुआ अमृत पीती हुई, और इड़ा नासिका को ब्रह्मरन्ध्र में रखती हुई योगियो की पंक्ति को जरा और मरण का भय कुछ भी नहीं उत्पन्न होता।

१२। अदृष्ट तन्त्री (नाड़ी लक्षण गुण) में वीणा (शरीर लक्षण वीणा) बजती है। भावार्थ यह कि परब्रह्म में लीन योगी के हृदय में स्वयमेव उठता हुआ नाद (अनाहत नाद) सुनाई पड़ता है। उक्त अदृष्टतन्त्री से उर, कण्ठ, इत्यादि स्थानों को आहत करता हुआ बिना प्रयत्न का शब्द निकलता है। यही शब्द जहाँ विश्राम पाता है उसी में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में मन का नियोग कोजिये। क्योंकि मुक्ति का कारण वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र में मनो-नियोग ही है और सब कारण जितने बतलाये गये हैं वे सब तो उपचार वाक्य मात्र हैं।

१३। जो जहाँ से उत्पन्न होता है वह वहाँ से किसी कारण से उत्पन्न होता है। शत्रु अथवा मित्र हो, प्रतिकूल तथा अनुकूल

भाव से आता हो। चाहे जिस मार्ग (जैन, शैव, आदि) का अनुयायी हो, दोनो को एक ही दृष्टि से देखो।

१४। किसी जिसी, या उसी पुरुष अथवा नारी अर्थात् मनुष्य मात्र का जो हित वचन हो उसी का उपदेश करो। समस्त प्रकार से थोड़ा ही कहना अच्छा लगता है।

१५। जो सत्यमय हो वही बोलना चाहिये। इसी को धर्मरहस्य समझो। यही परमार्थ, यही शिव, और यही सुखरूपी रत्नों की खान है।

१६। इन सुश्रावको तथा उन मुनियों को देखो। ये तपस्या कर रहे हैं। बस इस जन्म का यही फल है। विषय-सुखो का भोग नही।

१७। सभी लोग मोक्ष के लिये तड़पते हैं तथा ये सभी पण्डित है। लेकिन कोई भी यह नहीं विचारता है कि निर्वाण का स्वरूप क्या है।

१८-२३ यहां श्रुत-देवी राजा कुमारपाल से कहती है:— हे महाराज ! मैं आप लोगो का बान्धव हूं ऐसा कहकर उपदेश दीजिये। हे अज्ञानरहितसज्जनो ! आप इस स्वपक्ष तथा परपक्ष के ऊपर किसी का चिन्तन कीजिये। आपलोग संसार रूपी वन में न गिरें। और आपलोग सुखी हों। आपलोगों को मैं अपने समान देखकर तथा आपलोगों जैसा अपने को समझ कर आपलोगों को शिक्षा देता हूं कि आपलोग सर्वत्र समभाव रक्खें।

यही आपको अक्षय स्थान पर ले जा सकता है। आपलोग जीवों पर दया रक्खें तथा सत्य-भाषण करें। इससे आपलोगों को सुख और कल्याण प्राप्त होगा, और इससे आप कृतकृत्य होंगे इस जन्म में आपलोगों से केवल साधु-सेवा की जानी चाहिये। इस से आप सम्यक् व्यवहार क्षमा तथा संयम सीख सकेंगे। धर्मरक्षा अर्थात् धर्म-प्रतिपादक-सिद्धान्तो में आस्था रक्खें; इससे कलिमल अर्थात् इस जन्म के पाप नष्ट होंगे। आपके पूर्व जन्मकृत पाप भी दूर हो जायेंगे और मोक्ष भी निकट आ जायेगा। यदि आपलोगों में संयम रहेगा तो मोक्ष आपलोगों से दूर नहीं रहेगा।

२४-२९ हे महाराज कुमारपाल! इस प्रकार अपने को सिखाइये। मेरी कोई निन्दा करे अथवा प्रशंसा पर मैं न तो किसी की निन्दा करूंगा न प्रशंसा। निन्दक में द्वेष अथवा प्रशंसक मे राग न रक्खूंगा। मुझको संसार रूपी जंगल से मुक्त होना है, बस यही मुझ में स्थिर बुद्धि रहनी चाहिये। सद्गुरु प्रसन्न होकर मेरे मस्तक पर हाथ रक्खें। तब मैं आत्म-शुद्धि प्राप्त करूंगा। हमलोगों ने किसी शुभ कर्म के योग से ही यह मनुजत्व प्राप्त किया है। मोक्ष हमलोगों के निकट ही रहे। मेरा मिथ्यात्व मुझसे दूर चला जाय। हमारा मोह-प्ररोह विनष्ट हो गया। हममें संयम का उदय हुआ। विषय मुझ में चंचलता नहीं उत्पन्न कर सकते ऐसा विश्वास न रक्खो। रे मन परस्त्री से विषय-तृप्ति की प्रार्थनारूपी अनर्थ क्यों करता है? रे विषयो! मुझसे दूर रहो

रे करणो (इन्द्रयो !) तुम रुद्ध रहो। मैं बहुत अधिक कल्याण-रूपी फल को आत्मसात् कर रहा हूं। इस प्रकार की शिक्षा अपने को देते हुए जैन-शास्त्रों का अध्ययन करो। धर्मानुष्ठान करो। सब से वैराग्य रक्खो। मैंने बस यही तुम से परमार्थ कहा है।

३०। "हे प्रियतम ! मैं तुम्हारी बला लेती हूं" इस प्रकार कहती हुई स्त्री जिस पर अधिकार नहीं कर सकती उस संयम-लीन पुरुष को मोक्ष-सुख अवश्य ही प्राप्त होगा।

३१। जो सत्य बचन बोलता है, प्रधान उपशम को धारण करता है, तथा शत्रु को भी मित्र के समान समझता है वही निर्वाण को अपनाता है।

३२। अपने जी में खटकते हुए कर्म्मों को तप रूपी छुरे से काट डालो, और साधुओं के पास से शुद्धिकर उपदेशों को सुख से ग्रहण करो।

३३। मन को असाध्य धर्मार्थों से पृथक् रख कर जीवन सफल क्यों नहीं करते ? गुरूजनों के द्वारा उपदिष्ट श्रुतार्थों (आगमोक्त पदार्थों) को रोमाञ्च से प्रफुल्लित होकर मन में धारण करो।

३४। गुरु के पादाम्बुजों को अपने शिरकमल से नित्य भक्ति पूर्वक स्पर्श करो। उन्हीं के उपदेश से प्रिय बोलो और प्रिय आचरण करो।

३५। जो लोग संपत्ति-लुब्ध होकर व्यास के समान वाक्-संपत्ति प्रदर्शित करते हैं, हे आपत्ति-भीत! ऐसे विपत्तिकर मूढ़ गुरुओं को छोड़ो।

३६। जिस प्रकार से हो दया करो, जिस किसी प्रकार से भी हो सके धर्म का आचरण करो। जिस किसी प्रकार से भी प्रशम धारण करो। जैसे हो सके, वैसे कर्म का वन्धन तोड़ो।

३७। किस प्रकार जन्म होता है, किस प्रकार मरण होता है, संसार कैसा है, और निर्वाण कैसा है, इस प्रकार की बातें वही जान सकता है जिसे अर्हत् सिद्धान्तों पर विश्वास है।

३८। जैसा वृक्ष होता है वैसाही फल फलता है। कैसे जैसे और तैसे भी मिथ्या-धर्म न करो।

३९। मैं ऐसा कहता हूं। जिस किसी देश या काल में हो, रह कर सम्यक् आचरण करो। यत्र तत्र रहकर भी इस लोक या परलोक में शुभकर अनुराग उत्पन्न करो।

४०। जब तक इन्द्रियाँ वश में न हों तबतक कषायों (चित्तमलों) को मनुष्य वश मे नहीं कर सकता। जबतक कषायों का क्षय नहीं हो जाता तबतक कर्मों का नाश नहीं होता।

४१। जबतक मनुष्य तप नहीं करता तबतक कर्म दुर्धर (दुर्जेय) हैं, तपस्या से जितना फल सिद्ध होता है उतना कोई नहीं जानता।

४२। मोक्ष में जितना सुख है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। देव और देवियों का पारस्परिक सुख भी स्वल्पकालीन ही है।

४३। जिसके मन में इतना आग्रह है कि मैं न तो स्वयं कभी सावद्य व्यापार करूंगा और न कराऊंगा और सुखों में राग-हीन होकर रहूँगा, कहिये उसके विवेक की कौन मिति है ?

४४। हम यह कहते हैं, कि उन गुरुजनों को नमस्कार कीजिये जो बहुत से मिथ्यादर्शनों के मद को अवश्य चूर्ण कर डालते हैं, क्योंकि उनका तपस्तेज अत्यन्त असह्य है।

४५। जो अनुपम शीलका आचरण करता है और जिसका चित्त अनुपम है; वह प्रायः इसी जन्म में पवित्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

४६। प्रायः संसार में सुख दुर्लभ है। लोग प्रायः सुख के लोभी हैं। उस संतोषामृत के विना सुख की खोज मूढ जन प्रायः व्यर्थ करते हैं।

४७। आपलोग ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी रत्नत्रय का स्फुट रूप में अनुसरण करें अन्यथा मुक्ति कहाँ मिल सकती है ? सुवर्णभण्डों से ही तो प्रचुर धन खरीदे जाते हैं अन्यथा क्या वे आकाश से गिर पड़ते हैं ?

४८। किन कर्मों से मूर्ख इस संसार रूपी जंगल में भ्रमण करता है ? मोक्ष कहाँ से प्राप्त होता है ? यदि इन्हे जानने की इच्छा मन में हो तो जिनागमों का अन्वेषण कीजिये।

४९। सब यही कहते हैं कि सम्पत्ति चंचल और मरण निश्चित है। किन्तु महामुनियों से मिलकर कोई संयम नहीं करता।

५०। जरा भी मन को विषयो के वश में न करो। दुष्कर्म न करो। यदि शान्ति की इच्छा हो तो निन्दनीय वचनों का उच्चारण न करो।

५१। चाहे तीर्थ मे वास कीजिये अथवा वन में तपस्या कीजिये। या जी चाहे तो घर पर ही रहिये। किन्तु वे ही सब मुक्ति प्राप्त करेंगे जो जीवो पर दया करेंगे।

५२। जो तपस्या करता है पर संयम नहीं करता अथवा तपस्या न करते हुए भी संयम-हीन जीवन व्यतीत करता है और वह पुरुष जो कभी अपने पूर्व कृत पापो को सोच कर पश्चात्ताप नहीं करता, उसकी गणना साधु पुरुषों मे नहीं होती।

५३। वह पुरुष जो अपने प्रतिकूल तथा पुण्यहीन मनुष्यों पर भी कृपा करता है, इसी मानव-शरीर से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

५४। यदि कोई ससार के मार्ग मे स्थित होकर विषण्ण हो, तो उसके सम्बन्ध मे मै यह कहता हूं। हे मूर्ख! पवन के समान शीघ्र अपने मन को सुस्थिर करो।

५५। जो नियम-विहीन रात्रि को भी कसर कसर शब्द करके खाते हैं, वे पापरूपी ह्रद में हुडुर्रु शब्द करके गिरते हैं और भव-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं।

५६। जिसका मन तपः परिपालन मे बन्दर की सी उत्सुकता दिखलाता है। वह पुरुष इस संसार की गमनागमन क्रिया से अवश्य मुक्त हो जाता है।

५७। स्वर्ग के लिये जीवदया करो। मोक्ष के लिये दम का पालन करो। भला कहो तो दूसरे कर्मारम्भों को तुम किस लिये करते हो?

५८। भला तुम हाथी घोड़ा इत्यादि का संग्रह किसके लिये करते हो? किसके लिये कूटभाषण करते हो? जिसके विना मुक्ति अवश्य नहीं हो सकती उसको एकवार ही क्यों नहीं ग्रहण कर लेते?

५९। कायकुटीर निश्चित रुप से विनेश्वर है। प्राणधारण भी अत्यन्त चंचल है। ससार के इन दोषों को पहचान कर अशुभभावो को छोड़ दो।

६०। वे कान धन्य हैं तथा वे हृदय कृतार्थ हैं जो क्षण क्षण मे नये शास्त्रार्थों को गुरु के समीप सुनते तथा हृदय में धारण करते हैं।

६१। जिन के आगमों की वार्ता भी जिनके कानों में पड़ जाती है। उनको यह वस्तु मेरी और यह वस्तु तेरी है, इसप्रकार की ममता नहीं रह जाती।

६२। इस जीव-लोक में जीव जबतक जीता है तबतक दम का पालन करे और विभव को कुछ नहीं समझे तो इससंसार मे ही ज्ञान-लाभ कर सिद्धलोक में निश्चय ही चला जाता है।

६३। यदि तुम भद्रत्व प्राप्त करना चाहते हो तो वह प्रशम से प्राप्त हो सकता है। यदि प्रशम प्राप्त करना हो तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। यदि इन्द्रिय-जय करना हो तो मन को विषयों में न जाने दो। विना रागद्वेष की जय किये तुम मनको निश्चल नहीं कर सकते। अविचल सामायिक करके रागादि की विजय करो। अविचल सामायिक भी विना निर्मलता के प्राप्त नहीं हो सकता।

६४। क्रोध का, सब प्रकार के मान का, माया-जाल का, तथा लोभ का निश्चित रूप से नाश करके संसार मे स्थित रहो।

६५। अगर ससार का त्याग अभीष्ट हो, यदि मुक्तिसुख के उपभोग की उत्सुकता हो, तो सङ्ग के त्याग और शुभ गुरुकी सेवा करने मे मन को निश्चल करो।

६६। चित्त को अनाकुल, वचन को अचचल, तथा कर्मों को निर्मल करो। निश्चल होकर धर्म मे ध्यान लगाओ।

६७। यमुना, गंगा सरस्वती तथा नर्मदा मे जाकर अज्ञ पुरुष जो पशुओ के समान जल में गोता लगाते हैं उससे क्या लाभ? क्या जल से शान्ति अथवा कल्याण मिल सकते हैं।

६८। स्थापित मूर्त्ति के समान, प्रस्तरादि पर लिखित के समान, दीवाल इत्यादि पर चित्रित के समान, और दर्पण इत्यादि में प्रतिबिम्बित के समान जिन भगवान् को स्वाभाविक रूप में हृदय में अवतीर्ण करो।

६९। हे महाराज ! यदि प्राणियों पर दया न हो तो केवल संन्यासी इत्यादि का वेश धारण करना व्यर्थ है। क्योंकि केवल कृपालु ही निवृत्ति प्राप्त कर सकता है।

७०। इस प्रकार श्रुतदेवता सर्वभाषागीतो के द्वारा समस्त परमतत्त्व कह कर राजा कुमारपाल के गले मे अपनी माला डालकर मंगल कह कर अपने लोक को चली गयी।

चतुर्थ पाठ

१। गाढ़ेपरिग्रह रूपी ग्राह से ग्रहीत पुरुष अपवर्ग पाने से वञ्चित रहता है। परिग्रहरूपी दुर्व्यसन को छोड़ कर सुखके कारण मुक्ति मे सलग्न हो।

२। ये रागासक्त नेत्र जन्मभर भी पवित्र नहीं होते जो पररमणी के रूप को देखकर मुस्कुराते हैं।

३। रे जीव ! मनोहर गान को सुन कर अपने मनोरत्न को प्रसन्न न कर। कठोर और निर्दय शब्द सुनने के समय भी मन में उद्वेग न कर।

४। मृग, गज, मधुकर, झष (मछली) और शलभ (भुनगा) अपने अपने विषयो मे आसक्त होकर एक एक इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर दुःख पाते रहते हैं।

५। एकही इन्द्रिय के वशी भूत होने पर हजारों दुःख मिलते हैं। फिर जो पांचो इन्द्रियो के वशी-भूत हो उसकी कुशल कहाँ ?

६। इन्द्रिय-सौख्य में प्रेम न करो। अपवर्ग के लिये प्रयत्न करो। जीवण क्षणभंगुर है अतः नहीं लगने लायक विषय-सुख की राह में न लगो।

७। सहस्त्रों वर्षों में जितने तप, संयम या उपकार किये जा सकते हैं वे सब क्रोध रूपी महानल के संसर्गसे क्षण भर में जल कर क्षार हो जाते हैं।

८। बिना ज्ञान के सचरित्रता नहीं आ सकती। बिना चरित्रबल के मोक्ष नहीं होता। मोक्ष के बिना इस संसार में निरन्तर या शाश्वतसुख नहीं हो सकता।

९। जो मनुष्य विषय-सुखों में दौड़ते हुए मनरूपी मीन को नहीं रोक लेता वह दीन वचन बोलता हुआ संसार रूपी जंगल में भ्रमण करता रहता है।

१०। भगवान् जिन, तथा गुरुजनों के विनय, तप, संयम और उपकार में जो समय लगाया जाता है वही इस क्षणभंगुर जीवन का सार है।

११। यह संयम मंजरी श्रमणों के लिये भूषण, वसन तथा हाथी (वाहन) है। श्री महेश्वरसूरि गुरु ने इसकी रचना की है। इसको सावधानता पूर्वक सुनिये।

पंचम पाठ

१। जो मूर्ख पण्डितों के बीच में लक्षण-हीन काव्य पढ़ता है, वह अपने ही भुजाग्र में स्थित खड्ग से अनजान में अपने शिर को खण्डित करता है।

२। किसी नायिका से सखी कह रही है:—जिसके बिना जीना असम्भव है अपराध करने पर भी उससे अनुनय करना ही पड़ता है। नगर को जला देनेवाली आग भी किसको प्रिय नहीं है?

३। युद्ध के लिये उद्यत हम्मीर अपने पैरों पर पड़ी हुई प्रियतमा को संबोधित कर कह रहे हैं:—

हे सुन्दरि! मेरे पैर को छोड़ो और हँस कर खड्ग समर्पित करो। म्लेच्छों के शरीरों को काट करही हम्मीर तुम्हारा मुख देखेगा।

४। कल्प वृक्ष, सुरभी और पारस मणि भी वीर पुरुष के समान नहीं कहे जा सकते। कल्पवृक्ष वल्कलमय, और कठिन शरीर वाला है। सुरभी पशु है और पारसमणि भी पाषाण ही है।

५। जिस समय गजयूथों के साथ वीर हम्मीर क्रोध से शत्रु-सेना पर आक्रमण करने के लिये चले उस समय पृथ्वी पैरों के भार से दलित हो गई। सूर्य्य का रथ भी धूल से ढँक गया। कमठ का पीठ भी नीचे धँस गया। मेरु और मंदर के शिखर

भी काँपने लगे। म्लेच्छों के पुत्र भी 'कष्ट हा कष्ट !' कह कर मूर्च्छित हो गये।

६। वह भवानी-कान्त जिनके शिरपर गंगा हैं, जिनकी अर्द्धाङ्गिनी गौरी है, जिन्हों ने सर्पों के हार गले में पहन रक्खे हैं, जिनके कण्ठ में विष स्थित है, दिशायें ही जिनके परिधान हैं, जिन्हों ने संसार को तार दिया है, किरणों के मूल चन्द्रमा को जिन्हों ने शिरपर धारण कर रक्खा है, जिनके तृतीय नेत्र में आग धधक रही है, आपलोगों को संपत्ति तथा प्रचुर सुख प्रदान करें।

७। यह कथन जज्जल नामक हम्मीर के सेनापति का है:—दृढ़ सन्नाह पहन कर, बाहों के ऊपर कवच देकर, बन्धुबान्धवों को आश्वासन देकर, स्वामी हम्मीर का वचन लेकर, रण में प्रवेश कर, अपने कवचो से प्रतिपक्षियों के कवचों को तोड़ फोड़ कर, उड़ कर आकाश-मार्ग में भ्रमणकरूंगा। दुश्मन के शिर पर खड्ग प्रहार करूंगा। पर्वतों को उखाड़ डालूंगा। जज्जल कहता है कि हम्मीर के लिये क्रोधाग्नि में जलूंगा। सुलतान के शिर पर तलवार चला कर अर्थात् उसका शिर काट कर, शरीर त्याग कर स्वर्ग चला जाऊंगा।

८। जिसके आधे अंग में उनकी पत्नी पार्वती शोभती हैं, जिनके शिर पर गंगाजी की चंचल तरङ्गें हैं। जो गंगा सब की आशाओं को पूर्ण करती तथा सभी दुःखों का नाश करती हैं।

नागराजही जिनके हार हैं और दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं। जिनके संग में बेताल हैं, जो धूर्तों और दुष्टों का नाश करते हैं, उत्सव के कारण सुन्दर नाच करते हैं और जिनके प्रत्येक ताल के साथ पृथ्वी काँपती है, जिनको देखकर मनुष्य मोक्ष पा जाता है, वह भगवान् शिव आपलोगों को सुख दें।

९। रे मत्तमतंगज-गामिनी, खंजनलोचना, चन्द्रमुखी स्त्री! चंचल यौवन को तुम चतुरों को नहीं समर्पण करती हो, अतएव तुम कुछ नहीं जानती हो।

१०। यदि राजा लोभी हो, समाज खल हो, बहू कलह कारणी हो, सेवक धूर्त्त हो, और यदि जीवन और सुख की इच्छा हो तो बहुत गुणों से युक्त घरको भी त्याग दो।

११। हे सखी! चंचल बिजली नाच रही है। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कामदेव मेघरूपी शाण पर अपनी तलवार को पजा रहा है। कदंब फूला, आकाश में आडंबर दिखाई पड़ा, पावस ऋतु प्राप्त हुई, और घने घन बरसने लगे।

१२। जिस समय वीर हम्मीर युद्धयात्रा में चलते हैं, शत्रुओं के घरों में आग लग जाती है, धह धह कर जलने लगती है, दिङ्मार्गों मे तथा आकाशपथों में अग्नि भर जाती है, पैदल सैनिक सभी दिशाओं मे फैल जाते हैं, लोटती हुई शत्रु-युवतियों के स्तनभारों से उनके जघे लचक जाते हैं, भय से छिपी हुई थकित वैरितरुणियाँ भयानक भेरी शब्द को सुनकर पृथ्वी पर लोटती

हैं, और देह पीटती हैं। शत्रुओं के शिर टूट कर गिरने लगते हैं।

१३। कदंब प्रफुल्लित हो गये। उनपर भ्रमर भ्रमण कर रहे हैं। मेघ जलभर जाने से श्यामल दीख पड़ते हैं। विद्युत् नृत्य कर रही है। अतः हे प्रियसखि! कहो तो हमारे कान्त कब आवेंगे?

१४। कोकिलों के शावक आम्रवृक्षों पर बैठकर मधुमास में पञ्चमस्वर से गाते हैं। मेरे मन को मन्मथ संताप दे रहा है किन्तु हमारे कान्त अभीतक भी नहीं आये।

१५। यौवन देह और धन अत्यन्त चंचल है। बन्धुजन तथा सहोदर भाई स्वप्न तुल्य हैं। मृत्यु निश्चित है। अतएव हे बर्व्वर! मन से पाप छोड़ दे।

१६। इस पद्य में बेचारी पार्वती की गम्भीर आर्थिक-संकट से उत्पन्न हुई चिन्ता का वर्णन है। मेरा कुमार (स्कन्द) अभी बालक है, और उसे छः मुख हैं। मैं अकेली अर्थोपार्ज्जन के उपायों से रहित नारी हूं। मेरे भिक्षुक पति रात-दिन विष ही खाया करते हैं। न मालूम भविष्य में हमारी कौन सी गति होने वाली है।

१७। अहो यह नागरी है अथवा काम देव की सेना! इसके पैरों में महामत्तमातंगों की चाल है। कटाक्षों में तीक्ष्णबाण है। भुजाओं में पाश हैं तथा भौहें धनुष के समान हैं।

१८। हे सुन्दरि ! माधव-संभव शीतल दक्षिण वायु बह रही है, कोयल कोमल पचम स्वर से गा रही है। मधुपान करने से गम्भीर स्वरवाले भ्रमर भ्रमण कर रहे हैं।

१९। आम्रवृक्ष ने नव मंजरी ली। नूतन किंशुकों के वन सम्यक् रूप से प्रफुल्लित हुए। इस वसन्त काल में भी मेरे कान्त क्या देशान्तर जायेंगे ? क्या उनके लिये काम या वसन्त नहीं हैं ?

२०। उसके दोनों नेत्रो की उपमा खजनो से दी जा सकती है। उसके भुज-युग्मों की सुषमा चारु कनकलता के समान है। वह प्रफुल्लित कमलो के समान मुखवाली और गज-गामिनी है। न मालूम विधाता ने किसके सुकृत फल से इस तरुणी का निर्माण किया है।

२१ जिसमें मंजुल किंशुक, अशोक और चपक फूले हुए हैं, आम्र-मञ्जरी की गंध से भ्रमर लुब्ध हो कर आकृष्ट हो रहे हैं और मानिनियों के मान को भजन करनेवाली दक्षिण वायु का जिसमे संचार है, वह लोक लोचनों को रंजित करनेवाला मधुमास आ गया।

२२। हे चेरी ! मलयवायु बह रही है, हाय ! मेरी काया काँप रही है, कोकिलो की आलापरचना श्रवण रंध्रों पर चोट करती है। भृङ्गो के झंकारसमूह दशों दिशाओं मे सुनाई पड़ते हैं। चंड चाण्डाल कामदेव मेरी जैसी विरहिणियो को मरने पर भी मारता रहता है।

२३। पैर में नूपुर झनझना रहे हैं जिनके स्वर हंसों के शब्द के समान सुन्दर लगते हैं। स्थूल स्तनो के अग्रभाग पर विशाल मोतियो की मनोहर माला नाच रही है। बांयी और दाहिनी ओर तीखे नेत्र-कटाक्ष चलते है। यह सुन्दरी किसी नागर के गेह के अलंकार सी दीख पड़ती है।

२४। जहाँ केतकी, सुन्दर चंपक, आम्रमंजरी, तथा बेंत ये सब प्रफुल्लित हैं। सब दिशाओ मे किंशुक कानन दीख पड़ते हैं और भ्रमर मकरन्दपान मे संलग्न हैं। पद्मगध युक्त और मानिनियों के मान-भंजन में निपुण, मद मद, समीरण जहाँ बहता है। वहाँ अपनी केलि और कौतुक से युक्त नृत्य में लगी हुई तरुणियाँ दीख पड़ती हैं।

२५। हे सखी! किंशुक फूले, चन्द्रमा प्रकट हुए, आमों में मञ्जरियाँ दीख पड़ीं। दक्षिणवायु शीतल होकर बहने लगी। वियोगिनियों का हृदय काँप रहा है। सभी दिशाओं मे केतकी की धूलि फैल गई। सब कुछ पीला ही पीला दीख पड़ता है। वसन्त तो आचुका। आह! मैं क्या करूं? मेरे प्रियतम अभी तक मेरे पास न आये।

—:(*):—

षष्ठ पाठ

(क) इस उद्धरण मे रेवा नदी में सहस्रार्जुन की रानियों की जल-क्रीड़ा का बर्णन है। वे सब परस्पर जलक्रीड़ा कर

रही थीं। एक दूसरी पर जल-समूह छिड़क रही थी। कहीं पर चन्द्रमा या कुद के समान टूटते हुए सुन्दर हारों से जल धवलित कर रही थीं। कहीं पर शब्द करते हुए नूपुरों से जल को सशब्द कर रही थी। कहीं चमकते हुए कुण्डलों से उसे चमका रही थीं। कहीं पर सरस ताम्बूल से कुछ लाल कर रही थीं। कहीं पर वकुल से आमोदित मदिरा से मत्त हो रही थी। कहीं पर स्फटिक के समान उज्ज्वल कर्पूर से जल को वासित कर रही थी। कहीं पर घुले हुए कज्जल से जल को काला कर रही थी। कही पर बहुत कुंकुम से जल को पिञ्जरित कर रही थी। कही मलयचन्दन का रसभर रही थी। कही पर यक्ष-कर्दम से कर्बुरित तथा कही पर भ्रमर- पंक्तियों से चुम्बित कर रही थी। मूँगा, मरकत, इन्द्रनील और सोने के हारों से उसी प्रकार जल को बहुवर्णो से रञ्जित कर रही थी जैसे इन्द्रधनुष, मेघ, और बिजली से आकाश-मण्डल विविधरागरञ्जित हो जाता है।

(ख) इस पद्य मे द्वारका मे श्री बलदेवजी नेमिनाथजी से पूछ रहे हैं:—

इसके अनन्तर सकललोक पालक महीश्वर फिर पूछते हैं और त्रिलोक पालक महामधुर ध्वनि से उत्तर देते हैं। हे भट्टारक! इस त्रिभुवन में सार क्या है? 'हे महीधरधारक धर्मरत्न ही इस त्रिभुवन का सार है'। हे जिनवर! भवके लक्षों मे कौन सी वस्तु दुर्लभ है"? हे श्रीधर! प्रव्रज्या-निधान ही संसार के लक्षों में सब से दुर्लभ है। "हे महागुरो! इस लोक में या परलोक

में कौनसा सुख है ?" " हे सुर का नाश करनेवाले ! बाधारहित दिन ही यहाँ परमसुख है। "हे तीर्थंकर जीवों के वैरी कौन हैं ?" "हे हलधर ! क्रोध, मोह और मृगलोचना ये ही यहाँ जीवों के सब से बड़े शत्रु हैं।" हे सर्वज्ञ ! यहाँ किसका पालन करना उचित है ?" "हे विष्णो ! यहाँ सम्यक्त्व और शील का निश्चल पालन ही उचित है।" "हे दयारुह ! यहां सुन्दर कर्त्तव्य क्या है ?" "हे देवकी सुत ! दान और पूजा।" "हे देवेश्वर ! असह्य क्या है ?" "हे गरुडगामी दूसरों का उत्पीड़न ही।" "हे समरविमर्दन ! बलवान क्या है ?" "हे जनार्दन ! जीवों का चिरकाल से किया कर्म ही।" "हे एकमात्र सुन्दर लोचन ! देवता कौन है ?" "हे मधुसूदन ! जो सब दोषों से रहित हो।" "संसार में ज्ञानोत्पादक धर्म क्या है ?" "हे नारायण ! जीवों पर दया करने में तल्लीन होना" "संसार का मूल क्या है ?" " हे केशव ! संसार का मूल भारी प्रमाद समझिये" "सिद्धि में बाधा डालनेवाला कौन है ?" "हे यदुपते ! हे माधव ! अज्ञानही" " भुवनोत्तम ! जीवनिकाय का दृढ़ बन्धन क्या है ?" "हे पुरुषोत्तम ! विविध परिग्रहोंवाला गृहिणी का स्नेह।"

(ग) राजा समुद्र विजयाङ्क भाइयों के सहित ज्ञात और अज्ञात का निरीक्षण करते थे और पृथ्वीमण्डल का पालन करते थे। एक दिन वे हाथी पर चढ़े। उन्हें देखकर ऐसा मालूम होता था जैसे उदयाचल पर चन्द्रमा उगा हुआ हो। वे बिना सहस्त्र नेत्र के इन्द्र थे और कुसुमसर न होते हुए भी स्वयं काम

से लगते थे। क्षार रहित समुद्र से वे मालूम पड़ते थे। इन्हे कपटहीन दामोदर भी कहा जा सकता था। उद्योतन के समान स्वच्छ शरीर थे और जिन के समान संसार के नाशक थे। चामर छत्र इत्यादि चिन्हों से युक्त तथा राज्यलक्ष्मी-समन्वित थे और विविध प्रकार के अलंकारों से अलंकृत थे। वे वसुदेव कुमार पुर के भीतर बाजार में घर में और आंगन में घूम रहे थे। ऐसा कोई पुरुष न था जिसने उन पर दृष्टि न डाली। वह दृष्टि ही न थी जो उनके वश में न हुई। वह मनुष्य-देव किस को नहीं अच्छा लगता? पुर में चलता हुआ तरुणियों के हृदय में काम-संताप उत्पन्न कर रहा था। उन में से कोई कुमार को देखती हुई रोम रोम मे पुलकित हो गई। उसके चित्त को प्राप्त न कर सकने के कारण वह मन्द मन्द खेद पाती रही।

१(घ) देह से पृथक् ज्ञानमय परमात्मा को जो देखता है परमसमाधि में स्थित वही पुरुष पण्डित होता है।

२। हे जीव! वेदों, शास्त्रो तथा इन्द्रियो से जिसका मनन नहीं हो सकता और जो केवल निर्मल ध्यान का ही विषय है वही अनादि परमात्मा है।

३। जिसके हृदय मे हरिणाक्षी है, भला सोचिये तो उसके हृदय में ब्रह्म कैसे रह सकता है? रे मूढ़! एक स्थान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं?

४। देवकुल, शिला, लेप या चित्र में देव नहीं हैं वे अक्षय, निरञ्जन, ज्ञानमय और शिव समचित्त में निवास करते हैं।

५। ये विषय-सुख दो दिन की वस्तुयें है फिर दुःखों की परंपरा ही है। अतएव हे भ्रान्त जीव ! अपने कंधे पर अपने नाश के लिये विषयसुख रूपी कुठार मत ढो।

१(क) लोगों मे मूर्ख गर्व धारण करता है कि मैं परमार्थ में प्रवीण हूं "। किन्तु करोड़ों मे कोई एक ही निरञ्जन ब्रह्म में लीन होता है।

२। आगम, वेद और पुराणों में पंडित लोग अपने ज्ञान का अभिमान रखते हैं। किन्तु वास्तव में वे उनसे उसी प्रकार कोरे हैं जैसे पके श्रीफल के बाहरही घूमनेवाले भौंरे।

३। प्रतिदिन स्वाभाविक रूप से स्फुरित होते हुए मनोरत्न को जो जानता है वही धर्म की परम गति को जानता है दूसरा कोई कहने मात्र से क्या जान सकता है ?

४। जिसने समरस होकर अपने मनोराज को 'सहज' मे निश्चल किया वही सिद्ध है। बस उसी क्षण से उसको जरामरण का भय नहीं है।

(ख) यदि नंगा रहने से मुक्ति होती तो कुत्ते और सियारों को भी मिल जाती। यदि लोम उखाड़ने से (शिर घुटाने से) मुक्ति होती तो युवती के नितम्बों को भी मिल जाती। यदि पाँख लेने से मुक्ति होती तो मोरों और चमरियों को मिल जाती। यदि जूठा भोजन करने से ज्ञान होता तो हाथियों और घोड़ों को मिल जाता। सरह कहते हैं कि क्षपणों का मोक्ष मिलना तो मुझे

किसी प्रकार से भी नहीं समझ पड़ता। यह शरीर तत्त्वरहित है। बस मिथ्या ही वे इसे विविध प्रकार की पीड़ा दिया करते हैं।

(छ) वह सज्जन कैसा है? वह बिशुद्ध पक्षोवाला राजहंस के जैसा दूध और पानी को पहचाननेवाला है। किन्तु राजहस का भो घनघोर मेघो के समूह से मानस दुःख प्राप्त करता है। किन्तु सज्जनरूपो राजहस खल-जलदों के स्वभाव को जानता है।

वह हँस कर रह गया। पूर्णिमा चन्द्र के जैसा सकलकलाओं को धारण करनेवाला, लोगो के मन को आनन्द देनेवाले के समान वह होता है। उन मे से पूर्णिमाचन्द्र भी कलक दूषित तथा अभिसारिकाओ के मन को कष्टदायक-होता है। किन्तु सज्जन निष्कलङ्क और सबको धैर्य प्रदान करनेवाला होता है। वह उस मृणाल के समान होता है जो काटे जाने पर स्नेहतन्तु पूर्ण तथा शीतल रहता है। वह मृणाल भी कुछ चचल स्वभाव वाला तथा जल-संसर्ग से वर्द्धित होता है। किन्तु सज्जन तो मधुर स्वभाव और वैदग्ध्य से रस को बढ़ानेवाला होता है। हाँ, दिग्गजों के समान उन्नत-स्वभाव, तथा अनवरत दान बरसाने वाला होता है। सज्जन और दिग्गजों मे भी दिग्गजों को यह बिकार होता है कि वह दान-समय में श्याम मुख बाला हो जाता है। किन्तु सज्जन को मद न होता है और दान देने के समय उसका मुख-कमल बिकसित रहता है। फिर सज्जन मोतियों के हार

के समान स्वभावविमल और बहुगुणप्रसार होता है। उन में से भी हार सैकड़ों छिद्रोंवाला और वन में बढ़ने वाला होता है। किन्तु सज्जन अछिद्र और नागरिक होता है। किंबहुना, सज्जन समुद्र के समान गंभीरस्वभाव तथा महार्थ होता है। उनमें से समुद्र भी ऊपर उठनेवाली तरंगों से युक्त नित्य कलकल शब्द करके बगल के लोगों को उद्वेजित करने वाला तथा दुर्गत कुटुम्बवाले के समान होता है। किन्तु सज्जन मन्थर स्वभाव और मधु के समान मधुर वचनों से लोगों को प्रसन्न करने वाला होता है। और भी—सरल, प्रियंवद, दक्षिण, त्यागी, गुणज्ञ और सुभग सज्जन मेरा जीवन भी लेकर चिरकाल तक लोक में जीता रहे।

कवि-परिचय

प्रथम पाठ

१। यह महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक से लिया गया है। यह महाकवि कालिदास का लिखा हुआ है या किसी दूसरे ने इसे लिख कर उक्त नाटक मे जोड़ दिया है यह कहना कठिन है। किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में हमें महाकवि कालिदास का लिखा मानने में संकोच हो सकता है परन्तु इसे हम किसी और का लिखा भी कैसे मान सकते हैं? महाकवि कालिदास का समय ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता।

कोई उन्हें ५७ बी०सी० कोई पांचवीं छठीं या सातवीं शताब्दी के किसी विक्रमादित्य का राजकवि मानते हैं। किन्तु इस में सन्देह नहीं कि यह प्रारम्भिक अपभ्रंश-साहित्य का नमूना है।

द्वितीय पाठ

२। यह कविवर धनपाल की कृति है। उसकी भविस्सयत्त-कहा से उद्धृत है। वह धक्कड़ वैश्य वंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी माता का नाम धनश्री और पिता का नाम माहेश्वर था। वह अपने को सरस्वती का पुत्र बतलाता है और सरस्वती से बहुत से बरदान पाने का उल्लेख करता है। शायद वह दिगम्बर जैन था। धक्कड़ और धरकट एक ही शब्द हैं। इस नाम की जाति का उल्लेख तेजपाल के १२३०ई० में लिखित शिलालेख में मिलता है। वह नवीं या दशवीं शताब्दी में रहा होगा।

तृतीय पाठ

३। यह उद्धरण जैन साधु हेमचन्द्र के द्वाश्रय काव्य से लिया गया है। इनका समय सन् १०८८ से सन् ११७२ ई० तक है। इन्हों ने प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इन्होंने सिद्धहैमव्याकरण लिखा है जिसमें संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं का व्याकरण

लिखा गया है। इन्होंने एक द्वाश्रय काव्य कुमारपालचरित लिखा है। उसमें अपने व्याकरण के सूत्रों के अनुसार शब्दों के प्रयोग दिखलाये हैं। अपभ्रंश व्याकरण के शब्दों के प्रयोग जिन ७० पद्यों में हैं, उन्हें ही यहाँ उद्धृत किया गया है।

चतुर्थ पाठ

यह उद्धरण माहेश्वर सूरि के अप्रकाशित ग्रन्थ संजम मंजरी से लिया गया हैं। यह समग्र ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है। इसमें केवल ३५ दोधक या दोहे हैं। इस ग्रन्थ का लेखक माहेश्वरसूरि १२ वीं शताब्दी में रहा होगा।

पंचम पाठ

यह उद्धरण प्राकृत-पैंगलम् से लिया गया है। इसके लेखक पिंगल ऋषि बतलाये जाते हैं। इस ग्रन्थ के छन्दों में कहीं २ हम्मीर का वर्णन है। हम्मीर का समय सन् १३०२ से १३६६ ई० तक है। अतएव यह ग्रन्थ १४ वीं या १५ वीं शताब्दी में बना होगा। परन्तु इसके पद्यों में से अधिकांश कुछ और पहले के हो सकते हैं।

षष्ठ पाठ

(क) यह उद्धरण 'चतुर्मुखस्वयंभु के पद्मचर्या' (पउम चरिया) से लिया गया है। इस ग्रन्थ की ९० संधियों तक इसने लिखा है। इस कवि ने दण्डी तथा भामह का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि वह उनके पीछे का है। इस कवि का उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दी में वर्त्तमान पुष्पदन्त कवि ने किया है अत: वह उसके पहले का है। अतएव यह कवि ७वीं और ११वीं शताब्दी के बीच किसी समय में रहा होगा। सम्भव है, यह विक्रम की नवम शताब्दी में रहा हो। कहा जाता है इसका ग्रन्थ अधूरा ही रह गया था और इसी बीच में इसकी मृत्यु हो गई। फिर उसको इसके पुत्र त्रिभुवन-स्वयंभु ने पूर्ण किया था।

(ख) यह उद्धरण पउम-चरिया या हरिवंश पुराण की १०३ संधि से लिया गया है। त्रिभुवन स्वयंभु ने अपने पिता के ग्रन्थ को लिख कर पूरा किया था। यह उसी की कृति है।

(ग) यह कवि विक्रम की ग्यारहवीं सदी में वर्त्तमान था। इसके पिता का नाम केशव भट्ट तथा माता का नाम मुग्धा देवी था। यह शैव था। इसके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, और महापुराण (तिअट्ठिपुरिसगुणालंकार)। प्रस्तुत उद्धरण उसकी अन्तिम पुस्तक से लिया गया है।

(घ) इस उद्धरण का रचयिता योगीन्द्र कवि है। वह विक्रम की दशवीं या ग्याहरवीं शताब्दी में हुआ होगा। यह

उद्धरण उसके परमात्म-प्रकाश नामक ग्रन्थ से लिया गया है। इस पर ब्रह्मदेव नामक किसी विद्वान् ने संस्कृत में टीका लिखी है। ब्रह्मदेव विक्रम की सोलहवीं सदी के मध्य भाग में हुआ होगा। योगीन्द्र के परमात्म-प्रकाश, दोहा-प्राभृतम् और श्रावकाचार ये तीन ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के मिलते हैं।

(ङ) ये दोहे बौद्ध सिद्ध 'कारह' के है। यह चौरासी सिद्धों में से एक था। उसके गीतों का प्रचार बगाल और आसाम में था। उसका समय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा शाहिदुल्ला के मुताबिक सन् ७०० ई० के लगभग है। किन्तु डा० श्री सुनीति कुमार चटर्जी के मुताबिक सन् १२०० ई० के लगभग है। राहुल जी इसका समय सं० ८८० के लगभग बतलाते हैं।

(च) सरह भो ८४ सिद्धो मे से एक थे। इनका समय सन् १००० ई० के आस पास (अपभ्रंश पाठावली मे) बताया गया है। किन्तु श्री राहुल साङ्कृत्यायन इनका समय संवत् ८०० के लगभग बतलाते हैं। ये राज्ञो नामक नगर के ब्राह्मण थे। भिक्षु होकर नालद विद्यालय मे रहने लगे थे।

(छ) इस उद्धरण मे उद्योतन सूरि की रचना उद्धृत की गयी है। उनकी पुस्तक का नाम है कुवलयमालाकथा। उसका समय शक संवत् ७०० के आसपास है। भाषा की दृष्टि से उनकी कुवलयमालाकथा अत्यन्त उपयोगी है। उनके समय मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ये तीनों एक समान साहित्यिक भाषायें गिनी जाती थीं।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
उनकी	उसकी	६	१५
नामिसाधु	नमिसाधु	१४	११
पार्यप्त	पर्य्याप्त	१९	१३
स्वतंत्र	स्वतंत्र	२०	४
चौपाइ	चौपाई	२१	९
कीर्त्तिलना	कीर्त्तिलता	२३	१२
हेमचन्ट्र	हेमचन्द्र	२७	२
व	वे	३२	९
गहीं	यहीं	३८	२१
मुवन-भयंकर	भुवन-भयकर	३९	१०
६३	४३	६३	१०
दिढ्ढिहि	दिट्ठिहि	१२२	४
हत्थउ	हत्थउ	१२३	१०
वायारम्मुवि	वायारम्भुवि	१२५	२०
वर्णा	वण	१३३	१२
गेहमडणि	गेहमंडणि	१३४	४
करिआइ	करिअइ	१३४	१२
मुवणुत्तम	भुवणुत्तम	१३६	३
विसव	विसय	१३७	७
गुज्जार	गुजार	१४०	१
माग	मार्ग	१४२	५